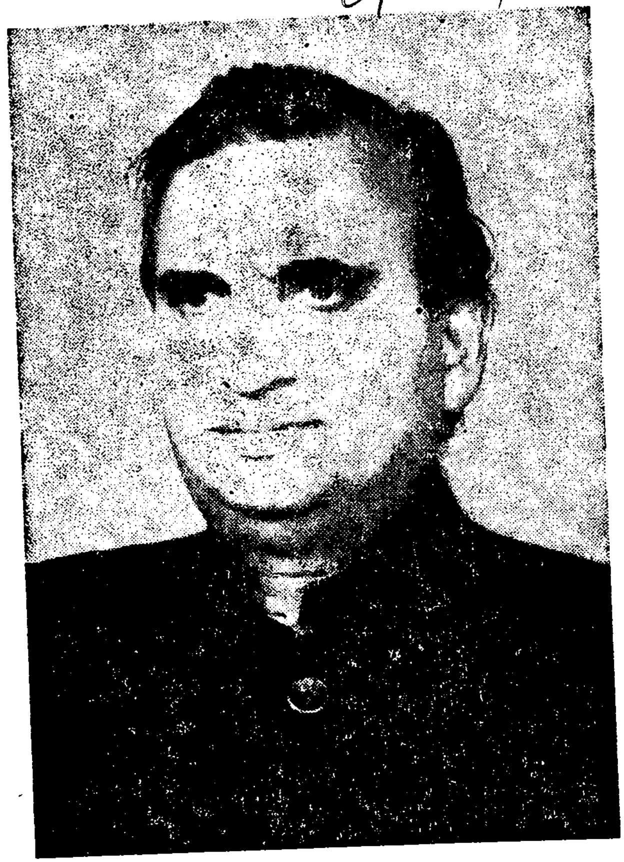

Param Sant Manav Dayal

Dr. I. C. Sharma Ji Maharaj

मासिक—

मानव मन्दिर

विश्व में मानव मात्र के सामाजिक, सांस्कृतिक
और आध्यात्मिक कल्याण और विकास की
सेवा में संलग्न मासिक पत्र।

BE MAN

मनुष्य बनो

सम्पादक :
डा० परस राम अग्रवाल

वर्ष 18	सोमवार, 10 जून 1991	संख्या 2

कर्म और संकल्प की शक्ति

दाता दयाल महर्षि शिवव्रत लाल जी महाराज

आस आस सब जग बंधा, गले आस की फाँस।
गुरु की कृपा कटाक्ष से, होवे पूरन आस ॥

जहाँ जिसका ध्यान ठहरा हुआ है, उसको वहीं से ही अपना रास्ता शुरू करना चाहिए। इधर-उधर भटकना ठीक नहीं। जब हम भली प्रकार देख रहे हैं कि हमारा निवास आशा के जगत् में है, चाह के स्थान में है, या इच्छा के मण्डल में है, तो हमको आशा, चाह और इच्छा के साथ हाथापाई करते हुए चलना चाहिए। एक आदमी को मिठाई खाने की इच्छा है। उसका मन रह-२ कर मिठाई की ओर दौड़ता है। क्यों न वह मिठाई खाकर मन की तृप्ति कर ले। जब वह मिठाई खा लेगा उसका चित्त ठिकाने लग जायेगा फिर उसके चित्त का रुझान किसी दूसरी ओर हो जायेगा। जो पेट की चिन्ता से व्याकुल है, वह ज्ञान और भक्ति का अधिकारी नहीं है, उसको इस ओर आकर्षित करना व्यर्थ है।

कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों का आदर्श एक ही है, परन्तु उसकी प्राप्ति के साधन अलग-२ हैं। जैसी किसी व्यक्ति की चित्तवृत्ति है, उसके अनुसार ही उसके मन की गढ़त और उसकी बुद्धि की उन्नति होनी चाहिए। अज्ञानियों

को ज्ञान की बातें बताकर भूल और भ्रम में न डालो, उनको कर्म करने दो। कर्म करने में ही उनकी भलाई है। कर्म का निरादर करना ग़लती है। भूल कर भी कर्म करने वाले व्यक्ति को यह न कहो कि वह कर्म का त्याग करके ज्ञान के या भक्ति के मार्ग को अपनाये। कर्म करने से मूढ़ता का अंग निर्बल होता है। जो आदमी आलसी बनकर एक जगह बैठा रहता है, उसका कहीं भी ठौर-ठिकाना नहीं है। ठिकाना तो उसका है, जिसने जीवन की यात्रा में पग जमाकर चलना आरम्भ कर दिया है। भले ही वह इस मार्ग में गिरे पड़े, उसके पाँव काँपें, वह सम्भलेगा और किसी न किसी दिन ठिकाने पर पहुँच ही जायेगा।

मगर जो हाथ पर हाथ धरे बैठा है, वह लक्ष्य से बहुत ही दूर है। चलने वाला यदि गिर भी जाता है, तो क्या है, वह राह पर तो है, किसी न किसी समय ठिकाने पर पहुँच ही जायेगा। परन्तु जिसने चलना शुरू ही नहीं किया वह लक्ष्य पर पहुँचेगा कैसे :

मार्ग चलते जो गिरे, ताहि न लागे दोष।
कहें कबीर बैठा रहे, ता सिर करें कोस॥

कर्म करने पर मन पर चोटें लगती हैं, ऊँच-नीच देखने पड़ते हैं, सोच-समझ कर काम करना पड़ता है और धीरे-२ कर्म करते-२ मनुष्य का हृदय सुन्दरता, बुद्धि और विवेक का भण्डार बन जाता है। एक पत्थर काटने वाला अपने हाथ में हथौड़ा लिये पत्थर गढ़ रहा है। हथौड़े की चोट से चीप पर चीप नीचे गिर रही है। वह अनगढ़े पत्थरों में से खूबसूरत रूप निकाल रहा है, रेखाएँ पैदा कर रहा है, फूल-पत्ती तथा बेल-बूटे बना रहा है। आप ही बताओ क्या यह खूबसूरती पत्थर में थी? नहीं, नहीं। यदि यह खूबसूरती पत्थर में होती तो पत्थर खूबसूरत दीखता क्यों नहीं?

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

सुन्दरता तो पत्थर के गढ़ने वाले के मन में है, जो अपने मन की सुन्दरता को पत्थर में दिखा रहा है। ज्यों-२ वह पत्थर पर चोटें मारता है त्यों-२ उसके मन में चोटें पड़ती हैं, जो उसके मन को विशेष प्रकार के विचार तथा गति देते हैं। जो सुन्दरता उसके अन्दर है वही बाहर फूट-२ कर निकल रही है।

एक वकील है और एक कठिन पेचदार मुकद्दमा उसके पास है। वह चाहता है कि उसका मवक्किल सफल हो जाये, कानून की पकड़ में न आये। वह सोचता है, विचारता है। अपने विचार को ऐंठता तथा मरोड़ता है। बात समझ में आ जाती है, कानून की धाराओं का अर्थ अपनी बुद्धि के अनुसार कर देता है। उसका मवक्किल सफल हो जाता है। प्रश्न उठता है न्याय कहाँ था ? वकील के मन में ही तो था, बाहर तो नहीं था।

इसी प्रकार एक भयंकर रोग से ग्रस्त एक मरीज़ वैद्य के पास आता है। वैद्य तरह-२ के प्रश्न रोगी से करता है। क्यों करता है ? इसलिये कि प्रश्न कर-२ के, वह उस नुक्ते को समझना चाहता है, जिससे रोगी का स्वास्थ्य बिगड़ा और वह रोगग्रस्त हो गया। जब प्रश्न करते-2 वैद्य को यह बात समझ में आ जाती है कि रोगी का स्वास्थ्य बिगड़ा क्यों, तो वह अपनी बुद्धि का प्रयोग करके, बहुत सोच-समझ से रोगी का इलाज करता है और रोगी स्वस्थ हो जाता है। अब प्रश्न उठता है कि रोगी की स्वस्थता कहाँ थी ? वैद्य के मन में ही तो थी। उसने उसे अपने मन से निकाल कर, अपने मन के प्रतिबिम्ब को रोगी पर डाला और रोगी ठीक हो गया।

स्वास्थ्य, न्याय तथा सुन्दरता क्या है ? इन्हीं को ईश्वर कहते हैं यदि ईश्वर स्वास्थ्य, न्याय और सुन्दरता

नहीं है, तो बोलो वह क्या है ? ईश्वर मनुष्य के हृदय के अन्दर सदा विराजमान रहता है। इसलिये जो व्यक्ति निरन्तर कर्म करते रहते हैं, वह जाने या अनजाने में उसके समीप आ ही जाते हैं।

सदैव कर्म करते रहो। कर्म से ही मन की शिला और गढ़त होती है। जिस समय काम के सिलसिले में एक व्यक्ति के अन्दर कोई सुन्दर विचार मन के अन्दर उत्पन्न होगा वह वैसे ही विचार वाले बहुत से लोगों को अपनी ओर खींच लायेगा।

इसी प्रकार मूढ़ जीव कर्म करते हुए हज़ारों और लाखों व्यक्तियों का उपकार करते है। इसलिये मूढ़ अवस्था वाले आदमियों को कर्म करने से रोको नहीं। कर्म के स्थल में कर्म करना बुरा नहीं है।

जिस प्रकार गंगा गंगोत्री से बहती है और उसमें हज़ारों नदियाँ और नाले आकर मिल जाते हैं। ठीक उसी तरह मूढ़ जीव, जब कर्म करने लगते हैं, तो इनके विचार में क्षोभ आता है। जैसा उनका ख्याल है, उनके अनुसार हज़ारों लाखों और करोड़ों वैसे ही ख्याल, उनको उत्तराधिकार से मिलते हैं। इनका अधिकार संस्कार बढ़ जाता है और उनमें योग्यता और ग्रहणशक्ति आ जाती है। सारी दुनिया ख्यालों से भरी पड़ी है। जहाँ-2 ऋषि अपनी विचारधारा छोड़ गये हैं, उन सबके शब्दों की ध्वनि आज भी आकाश में गूंज रही है। सारा आकाश इनसे परिपूर्ण हैं। यह विचार चील की तरह मंडराते हुए, अपने अधिकार की खोज में रहते हैं। जब कोई अधिकारी इनको मिल जाता है, तो उसके हृदय में यह समा जाते हैं। जिसके मन को गति मिल गई है, जिसके मन की गढ़त अच्छी तरह से हो चुकी है, वह इनको प्राप्त करके गद्गद और कृतकृत्य हो जाता है,

परन्तु जो अधिकारी ही नहीं, उसको फायदा नहीं पहुँचता। सोचो! एक व्यक्ति सूफी प्रकृति का है। उसने किसी सूफी की वाणी पढ़ी, उससे उसके मन में स्थिरता आई, वचन की धार मुँह से निकली। जो विचारवान् थे सब लोटपोट हो गये, मग्न हो गये, मगर अन्य लोग कोरे के कोरे ही रह गये। क्यों? क्योंकि वे इसके पात्र नहीं थे, अधिकारी नहीं थे, अन्यथा वे भी बेसुधि की अवस्था में चले जाते। जो मन नहीं देता ख्याल भी अपना मन (स्थान) उसको नहीं देता। जो मन देगा, वही ही मन लेगा।

लोगों को आश्चर्य होगा कि कर्म करते हुए आदमी किस तरह विचारों का अधिकारी हो जाता है। यह बात साधारण सी है। जो लोग सोच-विचार करते हैं, उनके लिए इस बात को समझना कठिन नहीं है। मगर जिनको सोच-विचार करने की आदत ही नहीं है, उनको हम सोचने-विचारने की आदत सिखाते हैं। देखो! एक आदमी किसी विशेष विचार में चिन्तित है। चुपचाप बैठा हुआ सोच रहा है कि वह क्या काम करे जिससे उसे इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाय। पल, क्षण तथा घण्टे बीत गये। वह हर पहलू से सोच-विचार कर रहा है। तरह-तरह के विचार मण्डराते हुए, उसके मन के चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं और वह अन्दर ही अन्दर सबकी काट-छाँट कर रहा है। अन्त में एक और विचार उसके सामने आता है। वह उस विचार के आते ही प्रसन्न हो जाता है। बस! बस!! यही काम की वस्तु है और इसीके करने से ही मेरा लाभ होगा। उसने केवल इसी विचार को ही अपने मन में रख लिया और शेष विचारों को अलग कर दिया। जो अधिकार की वस्तु थी हाथ आ गई और उसकी सफलता में सहायक बनी। अब आप ही सोचो ख्याल मंडराता हुआ सामने आया कि

नहीं। यदि तुम भी इससे शिक्षा प्राप्त करो, तो तुम भी इस प्रकार के विचारों से लाभ उठा सकते हो।

तुम्हारा मन केवल इस जन्म के संस्कारों के मसाले से तो बना नहीं, वह तो हज़ारों, लाखों बल्कि करोड़ों वर्ष के प्रभावों को अपने साथ लाया है। यह मन भी अपने आप में एक अथाह सागर है, जिसकी गहराई का पता पाना असम्भव है। यह भी सम्भव है कि एक ही समय में एक ही स्वभाव वाले और एक चित्तवृत्ति वाले कई आदमी किसी खास ख्याल का विचार कर रहे हों। उनके मन आकाश से विचार की धारों को निकाल कर, महाआकाश में फैलती हुई, उस मन आकाश की ओर झुकेगी, जो सोचने वालों के मन के अनुकूल और समानता रखने वाली होगी। उदाहरण-स्वरूप, एक विशेष पेशे के विभिन्न लोग अपनी-२ उन्नति के साधन सोच रहे थे। जो बात एक के मन में आती है, उसका प्रतिबिम्ब दूसरे के मन पर भी पड़ता है और एक ही साथ सबके सब वही काम करने लग जाते हैं। यहाँ सवाल अनुकूलता और समानता का है। एक सितार के सारे तारों को मिलाकर एक तार को छेड़ो। सब के सब तार आवाज़ देने लगेंगे, क्योंकि वे वास्तव में एक ही समय पर स्थित किये गये हैं। यदि वे एक समय पर स्थित न हों, तो कभी भी किसी दशा में विशेष तार को छेड़ने पर आवाज़ न देंगे। इस प्रकार बहुत से सितार यदि सुर मिला-कर एक कमरे में खूँटियों पर टाँग दो और एक सितार को बजाने लग जाओ, सम्भव है कि आवाज़ की धार को पकड़ कर सब के सब अपने आप आवाज़ देने लगें। दुनिया में हर जगह ऐसा होता है। जो इस भेद को जान जाते हैं, वह इससे लाभ उठा सकते हैं। आप यह कभी मत सोचो कि जो बातें आप दूसरों के विषय में सोचा करते हो, वह उन

तक नहीं पहुँचती। ऐसा कभी सम्भव नहीं है, विचार पानी से भी अधिक तरल, वायु से भी अधिक सूक्ष्म और बिजली से भी अधिक तेज़ हैं। विचार क्षण भर में हज़ारों, लाखों कोसों की दूरी तै कर लेते हैं और जो-२ अधिकारी मिलते हैं वे उन सबको सन्देश पहुँचा देते हैं। इस देश में एक समय ऐसा भी था जब लोग एक-दूसरे से हज़ारों मील की दूरी पर रहते हुए भी विचार ही की सहायता से आपस में बात-चीत कर लेते थे। आधुनिक युग में टैलीफोन तथा टैलीग्राफी (बेतार की तार) से यह काम किया जाता है। आप समझते हो कि बात को हृदयङ्गम करने का साधन केवल जिभ्या ही है। नहीं, नहीं आँख भी वही काम कर सकती है जो जिभ्या करती है, मन का तो कहना ही क्या। वह जब चाहे अपने अन्दर विचारों की धारों को निकाल-२ कर दूसरों तक पहुँचा सकता है। इस युग में भी ऐसे-2 गुरु तथा ऐसे-2 चेले मौजूद हैं जो मन की सहायता से एक-दूसरे का हाल जान लेते हैं।

सत्तपुरुष सम गुरु को जान।
बिन जिभ्या कहे वचन सुजान॥

कर्म करने वाले अधिकारी बनकर जाने और अनजाने दूसरों के विचारों से लाभान्वित होते हैं और अपने मानसिक भावों को शक्ति देते हुए धीरे-2 सांसारिक सफलता प्राप्त कर लेते हैं। उसके पश्चात् निःस्वार्थ बनकर निःस्वार्थ सेवा और निष्काम कर्म भी करने लगते है, जोकि ज्ञान और भक्ति का आदर्श है। अतः कर्म कटने वालों का दर्जा कभी भी नीचा नहीं माना जाना चाहिए।

अजर - अमर नाम

परमसन्त परम दयाल पण्डित फकीर चन्द जी महाराज

अक्तूबर 21, 1975

अजर अमर इक नाम है, सुमिरन जो आवे
बिन मुखड़ा से जप करो, नहिं जीभ दुलाओ।
उलटि सुरति ऊपर करो, नैनन दरसावो ॥
जाहु हंस पच्छिम दिसा, खिरकी खुलवावो।
तिरबेनी के घाट पर, हंसा नहवावो ॥
पानी पवन कि गम नहीं, दोहि लोक मंझारा।
ताही बिच इक रूप है, वोहि ध्यान लगावो ॥
जिमीं असमान उहाँ नहीं, वह अजर कहावै।
कहे कबीर सोई साधु जन, वा लोक मंझावै ॥

राधास्वामी !

हजूर पूर्णधनी दाता दयाल महर्षि शिवब्रत लाल जी महाराज ने, जब मुझे यह काम दिया था तो मुझे कहा था या यूँ कहो कि आज्ञा दी थी, "फकीर ! यह सत्संग का काम करते रहना। इससे दूसरों को तो लाभ होगा ही, किन्तु इस काम को करने से सबसे अधिक कल्याण तुम्हारा स्वयं का ही होगा।" आज इतने वर्षों के अनुभव के बाद, मैं अपने आप से पूछता हूँ, "क्यों फकीर ! क्या तुम्हें उस अजर-अमर का पता चला ? मालूम नहीं कि कबीर साहिब

या राधास्वामी दयाल का अजर-अमर नाम क्या है ? सच्चाई की तलाश में, नाम को जपते-2 मेरी तो आयु ही बीत गई। मुँह से बहुत राम-राम जपा और बहुत ही राधास्वामी-राधास्वामी जपा मगर मुझे तो वह अजर-अमरपना नहीं मिला।"

ऐ मेरे मालिक ! मेरे आधार !! मेरे बनाने वाले !!! मुझे तेरी तलाश थी। इस सिलसिले में कुदरत या मौज मुझे दाता दयाल जी के पास ले गई। उन्होंने ही मुझे सन्त-मत की शिक्षा दी। मेरे लिए सन्तमत या राधास्वामी मत बिलकुल ही एक नई वस्तु थी। पहिले-पहल तो मैं इस मत को समझ ही नहीं सका। परन्तु गुरु में अगाध श्रद्धा होने के कारण, मैंने यह प्रण किया कि मैं इस मार्ग पर सच्चाई से चलूंगा। मैं सच्चा होकर ही इस मार्ग पर चला। कहाँ पहुँचा ? कुछ पता नहीं। दाता ने फ़रमाया था, "फकीर ! चोला छोड़ने से पहिले शिक्षा की पद्धति को बदल जाना।" मैंने प्रण किया था कि मैं अपने जीवन में जो-२ भी अनुभव करूंगा सब आप सबको बता जाऊंगा। अब जब आप लोग मेरे पास आते हैं मैं सोचता हूँ कि आपको क्या दूँ ? जो मुझे मिला वही ही तो दे सकता हूँ। अजर-अमर के विषय में जानना चाहता था, अब आपको बता सकना हूँ कि अजर-अमरपना क्या है ?

अजर-अमर इक नाम है सुमिरन जो आवे।

अजर-अमर वह नाम है, जो सुमिरन में आवे। अब सवाल पैदा होता है कि सुमिरन है क्या ! हम जो मुँह से राम-राम या राधास्वामी जपते हैं प्राय: लोग इसी मुँह से जपने वाले राम-2, राधास्वामी या किसी और नाम को ही सुमिरन कहते हैं। मैंने भी मुँह से नाम को खूब जपा, खूब जपा। मगर मुझे तो अजर-अमर का कुछ पता नहीं लगा। तो फिर

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

इससे यह सिद्ध हुआ कि नाम जपना असली सुमिरन नहीं है। अगर नाम जपना सुमिरन नहीं है तो फिर सुमिरन है क्या? मैंने मुँह से बहुत राम-2 जपा, राधास्वामी-2 जपा, फिर मुझे अजर-अमर का पता क्यों नहीं चला? फिर कौन-सा नाम है जिसका कि मैं सुमिरन करूँ? निचले दर्जे के नाम बहुत सुमिरन किये। यदि शब्द को नाम कह दूं, तो शब्द तो घण्टा, शंख, बीन और बाँसुरी भी हैं। क्या घण्टा, शंख, बीन और बाँसुरी के शब्द सुनने से मुझे अजर-अमर का पता लग सका? नहीं, नहीं! इनके सुनने से मुझे आनन्द तो मिला, खुशी मिली, मगर अशर-अमर नहीं मिला। वह कैसे मिला? पहिले तो मैं घण्टा, शंख, मृदंग, बीन और मुरली को नाम ही समझता था। जब से मुझे यह समझ आ गई कि यह घण्टा, शंख आदि शब्द क्यों बजते हैं, तो मुझे असली नाम को ढूँढने की तीव्र इच्छा हुई। मैंने "पाँच नाम की व्याख्या" नामक एक पुस्तक लिखी है, जिसमें इन शब्दों के बजने का कारण बताया है। आज तक किसी भी सन्त ने यह नहीं बताया कि यह शब्द अन्तर में क्यों होते हैं। मैं आपको बताता हूँ। एक व्यक्ति के अन्दर, जिस प्रकार के विचार, भाव, संकल्प और आशाएं होती हैं और जिस प्रकार की उसकी प्रकृति होती है, उसी ही के अनुसार, उसके अन्तर में वह धुनें होती हैं। जिस प्रकार, बाहरी जगत् में स्थूल पदार्थ की धातुओं के इकट्ठा होने से घण्टा और शंख बजता है, उसी प्रकार सूक्ष्म प्रकृति की वासनाओं के इक्ट्ठा होने से मुरली और बीन की ध्वनि पैदा होती है। तो फिर इससे तो यह सिद्ध हुआ कि यह सब तो प्रकृति के ही शब्द हैं, जो प्रकृति के तथा वासनाओं के अनुसार होते हैं। तो फिर यह शब्द अजर-अमर तो न हुए। मैं अब कोशिश करने पर भी शंख, मृदंग, बीन तथा बाँसुरी आदि के शब्द नहीं

सुन सकता। क्यों ? क्योंकि मेरे अन्दर अब वासनाएँ रही ही नहीं।

आप लोग मुझे गुरु मानते हो। हो सकता है कि मैंने जो समझा है, वह ग़लत हो। मगर मेरी तलाश ने यह सिद्ध कर दिया है कि सहस्त्रदल कमल, त्रिकुटी, सुन्न, महासुन्न आदि में भी आशाओं के अनुसार और प्रकृति के अनुसार, जो शब्द होगा वह अजर-अमर कैसे हो सकता है ? तुम स्वयं ही देखो, तुम्हारे अभ्यास की दशा सदा एक जैसी नहीं रहती, बदलती ही रहती है। क्यों ? क्योंकि हमारी प्रकृति में परिवर्तन आता रहता है। प्रकृति का सम्बन्ध तो बाहरी प्रभाव और भोजन ही से है उसका अजर-अमर से सम्बन्ध कैसा ?

मैं जब कभी विचारों, भावों तथा संकल्पों को छोड़कर, मन से ऊपर चला जाता हूँ, तो फिर उस वस्तु की तलाश करता हूँ, जो प्रकाश में रहती हुई प्रकाश को देखती है और शब्द में रहती हुई शब्द को सुनती है। उस वस्तु के होने का पूरा विश्वास हो जाना ही अजर-अमर नाम है। मैं कुछ देर पहिले समाधि में था। न शरीर का अनुभव था न ख्वाहिश थी। क्यों ? क्योंकि मेरा जो अपना आप है वह अपने आप में ही था। वह सुमिरन में था। याद में था। वह वहाँ था जहाँ मन की माला, विचार की माला, या नाम की माला नहीं फेरी जाती। वह हमारे अन्तर में, जो असली वस्तु या सुरत है, उसका शरीर, मन, प्रकाश और शब्द की ओर से हट जाने के बाद, जो वस्तु शेष रह जाती है, उसका अनुभव होना ही अजर-अमर नाम है। उसमें ठहराव हो जाना अजर-अमर नाम का प्राप्त होना है। कैसे समझाऊँ आपको मैं ? मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ उसके लिए उपयुक्त शब्द ही नहीं मिलते :—

बिन मुखड़ा से जप करो, नाहिं जीभ डुलाओ ।
उलटि सुरति ऊपर करो, नैनन दरसाओ ॥

सुरत को कैसे उलटाया जाता है ? शरीर को, विचारों को और मन को भूल जाने से। सुरत को जब तक शरीर और मन से नहीं हटाओगे, सुरत ऊपर नहीं जा सकती। मेरा तो भाई ऐसा विश्वास है।

जाहु हंस पच्छिम दिसा, खिरकी खुलवावो।
तिरबेनी के घाट पर, हंसा नहवावो ॥

कबीर साहिब का खिड़की खुलवाने से क्या अभिप्राय है ? यह तो वही जानते होंगे। मैं तो वहीं बता सकता हूँ जो कि मैंने समझा है। कल्पना करो मैं इस मकान में बैठा हूँ। जो-२ भी कुछ इस कमरे में है मैं देख रहा हूँ। जब मैं कमरे की खिड़की खोलकर बाहर की ओर देखता हूँ तो क्या होगा ? मेरी सुरत मकान या कमरे के अन्दर की वस्तुओं से हटकर, बाहर की ओर चली जायेगी। कुछ भी हो कमरे के अन्दर की वस्तुओं से तो मेरी दृष्टि हट ही गई। ऐसे ही पिण्ड, अण्ड और ब्रह्माण्ड हमारा मकान है, हमारे इस मकान अर्थात् हमारे शरीर के अन्दर काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, भाव, विचार, संकल्प, रूप तथा रंग समाये हैं और हमारी सुरत इस मकान में बैठी हुई, इनमें फँसी हुई है। जब तक सुरत इनको छोड़कर और इनको भूलकर आगे नहीं जायेगी, हम इनमें ही फँसे रहेंगे। खिड़की खुलवाने का मैं तो यही अर्थ समझता हूँ, स्वामी जी महाराज ने भी ऐसा ही फ़रमाया है :—

पिण्ड, पिण्ड, ब्रह्माण्ड से पारा, वोह है देश हमारा।

त्रिवेणी क्या है ? गंगा, यमुना तथा सरस्वती के संगम को त्रिवेणी कहते हैं। बाहरी दुनिया में उसका नाम त्रिवेणी

है और अन्तर में इंगला, पिंगला और सुषुम्णा का इकट्ठा हो जाना अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बोध-भानों के इकट्ठा हो जाने का नाम ही त्रिवेणी है। त्रिवेणी में नहाने का मतलब क्या है? जब हम नहाते हैं, तो हमारे शरीर की मैल उतर जाती है और शरीर स्वच्छ हो जाता है। शरीर को ठण्डक पहुँचती ; और शान्ति मिलती है। अन्तर में मैल का उतरना क्या है? मन की आशाएँ और तरंगें सब समाप्त हो जाती हैं और सुरत अपने आप में ठहर जाती है और शान्ति मिलती है। यह है त्रिवेणी में नहाना।

पानी पवन कि गम नहीं, वोहि लोक मंझारा।
ताही विच इक रूप है, वोहि ध्यान लगाओ॥

जो वस्तु प्रकाश में रहती हुई प्रकाश को देखती है और शब्द में रहती हुई शब्द को सुनती है वह ही हम हैं। वही वस्तु अजर-अमर है, हमारी वह अवस्था अबिनाशी है। शेष हर वस्तु नाशवान् ही है। जब मैं उस अजर-अमर अविनाशी अवस्था में जाता हूँ, तो वहाँ ठहराव नहीं मिलता। यहाँ आकर मैं फेल हो जाता हूँ।

ज़िमीं असमान उहाँ नहीं, वह अजर कहावे।
कहें कबीर सोई साधु जन, वा लोक मंझावे॥

यह शरीर, मन और मन के विचार प्रकाश और शब्द अजर और अमर नहीं है। अजर-अमर वह वस्तु है, जो इन सबकी साक्षी है। मैं वहाँ जाने का यत्न करता हूँ। आप लोग आ जाते हो तो सोचता हूँ कि आप लोगों को दूँ क्या? मैंने जीवन में जो अनुभव किया है उसको आपको बताता हूँ।

दु:खियों दीनों पर दया हुई, भव पार किया गुरु प्यारे ने।
निर्धन को भक्ति योग युक्ति का, दान दिया गुरु प्यारे ने॥

गुरु करता क्या है ? संसार में जो दुःखी और अशान्त हैं उनको कहता है, "अपने आपको जानो और पहचानो कि तुम हो कौन। तुम अज्ञान के कारण अपने आपको शरीर और मन में फँसा कर यहाँ दुःख और सुख भोगते हो। यदि तुम अन्तर में अपने आप में चले जाओ तो सुखी हो जाओगे। अन्तर में अपने आप में जाने का दर्जा सबसे ऊँचा है, जहाँ तुम सब कुछ भूलकर सुख प्राप्त करते हो। जैसे जब तुम सारा दिन काम करने के बाद थक जाते हो और रात को जब गहरी नींद में सब कुछ भूल जाते हो, तो तुम्हें सुख मिलता है, वैसे ही जब तुम शरीर, मन को भूलकर, अपने आप में चले जाते हो तो तुम्हें आराम मिलता है, सुख मिलता है। तो सिद्ध हो गया कि सुख शरीर में नहीं, मन में नहीं। कहाँ है सुख ? शरीर और मन को भूल जाने के वाद, जो अवस्था आती है, उसमें ही सुख है और प्रकाश और शब्द के भूल जाने के बाद, जो अवस्था आती है, उसमें शान्ति है। यही बात गुरु नानक साहिब ने भी की है :—

कहे नानक बिन आपा चीन्हे, मिटे न भरम की काई।

स्वामी जी महाराज ने अपनी वाणी में इस प्रकार वर्णन किया है :—

आप आपको आप पहचानो, कहा और का नेक न मानो।

भवसागर क्या है ? सुरत का शरीर, मन और प्रकाश में फँसे रहना भवसागर है और इससे निकल जाना भवसागर से पार हो जाना है। फिर जब तुम भक्ति करोगे तो किसकी करोगे ? अकाल पुरुष की या परमतत्त्व आधार की, जो सबका आधार है और वह आधार तुम्हारे अन्तर में तुम्हारी अपनी ही सुरत है। भक्ति क्या है ?

भक्ति सुनाई सबसे न्यारी, वेद कतेब न काहे विचारी।
संतपुरुष चौथे पद वासा, सन्तन का वहाँ सदा बिलासा ॥

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

सो घर दरसाया गुरु पूरे, बीन बजे जहाँ अचरज तूरे।
आगे अलख पुरुष दरबारा, देखा जाय सुरत से सारा ॥
तिस पर अगम लोक इक न्यारा, सन्त सुरत कोई करत बिहारा
तहँ से दरसे अटल अटारी, अद्‌भुत राधास्वामी महल संवारी
सुरत हुई अति कर मगनानी, पुरुष अनामी जाय समानी ॥

इसमें सन्देह नहीं कि पहिले बाहर के गुरु की भक्ति होती है। बाहर के गुरु की भक्ति क्या है? लोगों ने समझ रखा है कि गुरु को रुपये दे दो, गुरु को मत्था टेको या गुरु का बढ़िया से बढ़िया डेरा बनवा दो बस यही गुरु सेवा या भक्ति है। सांसारिक रूप से तो यह एक प्रकार से ठीक भी है, क्योंकि जो तुम गुरु को दोगे वही तुम्हें वापिस भी मिलेगा। वास्तव में, यदि देखा जाये तो गुरु की सेवा या भक्ति कितने लोग करते हैं? गुरु को यदि लोग कुछ देते भी हैं तो इसलिये कि उनको पुत्र चाहिए, पौत्र चाहिए, किसीको बीमारी से छुटकारा चाहिए, तो किसीको मुकद्दमे में सफलता चाहिए। भक्ति क्या है? गुरु से प्रेम करना, गुरु की बात पर विश्वास करना तथा गुरु के उपदेशों का पालन करना ही गुरुभक्ति है। जब तक तुम्हें गुरु से प्रेम नहीं, तुम उसके सत्संग में नहीं जाओगे, जब तक सत्संग में नहीं जाओगे तुमको असलियत का ज्ञान कैसे होगा? तुम्हारे भ्रम कैसे मिटेंगे? इसलिये सबसे पहिले बाहर के गुरु की आवश्यकता है। इसके बिना तुम आगे नहीं बढ़ सकते। मैं बाहर के गुरु की भक्ति का खण्डन नहीं करता, क्योंकि बाहर के प्रेम के बिना आन्तरिक प्रेम नहीं आ सकता। बाहर का प्रेम क्या है? प्रकृति के किसी भी अंश से प्रेम करना। किसी स्त्री से प्रेम करना ही बाहर का प्रेम नहीं है। मातृ भक्ति, पितृ-भक्ति, दुःखियों की सेवा, परोपकार और देश की सेवा से क्या होता है? अपना धन तथा अपना समय देने से बाहर में

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

छोड़ने की आदत पड़ जाती है। जब बाहर में विचारों को छोड़ने की आदत पड़ जाती है, तब अभ्यास के समय अन्तर में भी तुम अपने विचारों को छोड़ सकोगे। इस वास्ते कहा गया है :—

पहले गुरु की भक्ति कर, पीछे और उपाय।
बिना गुरु की भक्ति के, जग फन्द न काटा जाय ॥
मोटे बन्धन जगत् के, गुरु भक्ति से काट।
झीने बन्धन मन के, कटें नाम परताप ॥

जिसको बाहर में त्याग करने की आदत नहीं, वह अन्तर में भी विचारों को छोड़ नहीं सकता।

हज़ूर दाता दयाल जी महाराज दोपहर के समय गर्मियों में सत्संगियों से कहा करते थे कि वे मिट्टी उठाकर वहाँ फेंकें। क्यों? ताकि उनको बाहर के प्रेम की आदत पड़ जाय। धूप में काम करने से, त्याग की आदत पड़ जाती है। जो बाहर में त्याग कर सकता है, वह अन्तर में भी अपने विचारों को छोड़ देने में सफल हो सकेगा। यह भक्ति गुरु बताता है :—

मदमान ने अति भरमाया था, माया के फाँस फँसाया था।
अब घट में जलाया अपनी मेहर से, ज्ञान दिया गुरु प्यारे ने ॥

मद-मान क्या है? मद-मान इस बात का है कि मैं भक्त हूँ, मैं बाप हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ या मैं राजपूत हूँ। मैं गुरु हूँ, मैं शिष्य हूँ, मैं धनी हूँ। यह मान या अभिमान है और अभिमान में आदमी अन्धा हो जाता है। केवल इस एक विचार से कि मैं किसीके अन्दर नहीं जाता, मेरा सब मद-मान जाता रहा। मुझे समझ आ गई कि मैं तो केवल चेतन का एक बुलबुला हूँ। वह भी अपनी इच्छा से नहीं, बल्कि मालिक की मौज से बना और जब मालिक की मौज होगी

तो यह टूट जायेगा। दूसरी बात यह है कि जब मैं कुछ करता ही नहीं, तो मैं मान भी किस बात का करूँ। जो कुछ भी किसीको मिलता है, वह उसके विश्वास का ही फल होता है।

माया की फाँस क्या है? अन्तर के विचारों को सत्त मानकर उनमें फँस जाना ही माया की फांस है। हमारे चित्त की अवस्था हर समय बदलती रहती है। कभी हम लालची होते हैं, तो कभी दानी बन जाते हैं। कभी हम नेकी करते हैं, तो कभी बुराई। यह जो हमारी अवस्थाएँ हैं, उनको योगियाँ कहते हैं। चौरासी लाख योनि क्या है? हमारे शरीर के छः चक्र, मन के छः चक्र, कुल बारह चक्र हुए। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, बुद्धि और आत्मा यह हुए सात, तो $12 \times 7 = 84$। हमारी सुरत इन चौरासी अवस्थाओं में घूमती रहती है। जब हम स्वस्थ होते हैं हमारी अवस्था और होती है, बीमारी के समय कुछ और। परेशानी के समय हालत और होती है और खुशी के समय कुछ और। जीवन में हम इन चौरासी योनियों में घूमते रहते हैं। जब मुझे समझ नहीं थी मैं भी इन चौरासी में फँसा हुआ था तो दाता ने मुझे चेताने के लिए लिखा था :—

काहे बौराना है फकीरवा।

जीवन के भले के लिए गुरु सहानुभूति से क्या करता है?
चौरासी का खटका मिटा सारा, गुरु दया हुई अपरम्पारा।
घट फट गया था दे भक्ति का काँटा, अब तो सिया गुरु प्यारे ने

अब मेरा चौरासी का खटका मिट गया। गुरु ने चेता दिया और मुझे शान्ति मिल गई।

सुरत-शब्द योग से पता चल गया कि वह कौन सी वस्तु है जो प्रकाश में रहती हुई प्रकाश को देखती है और

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

शब्द में रहती हुई शब्द को सुनती है। राधास्वामी नाम क्या है ? सुरत के अनुभव हो जाने की अवस्था का नाम राधास्वामी है :—

राधा आद सुरत का नाम।
स्वामी आद शब्द पहचान॥

जब सुरत का शब्द से मेल हो जाता है, तभी यह अवस्था आती है। सन्तमत की शिक्षा का हरएक आदमी अधिकारी नहीं है। लेकिन निराश नहीं होना चाहिए। चलते चले जाओ, जन्म-जन्मान्तरों का सिलसिला है। एक दिन तो पहुँच ही जाओगे।

सत्संग परमसन्त

हजूर मानव दयाल जी महाराज

बनवारीपुर 7-5-89

गुरु का स्वरूप

गुरु मध्य आदि अनन्त अद्भुत, अमल अगम अगोचरम्।
विभु विरजपार अपार निर्गुण, सगुन सत्य विश्वेश्वरम् ॥
जेहि मति लखे नहिं गति लखे, यह शुद्ध तत्त्व विचार हैं।
जो चरन कमल की ओट आया, भव से बेड़ा पार है ॥
गुरु विष्णु मूरत शिव की सूरत, गुरु को ब्रह्मा जान तू।
गुरु ब्रह्म हैं परब्रह्म हैं, यह सोच समझ के मान तू ॥
कर गुरु की संगत रात दिन, नर जनम अपना सुधार ले।
दे फेंक माया बोझ सिर से, यम का सीस न भार ले ॥
शीश दे तन मन को दे, गुरु भक्ति रतन अमोल ले।
राधास्वामी भेद बताया तुमको, हिये तराजू तोल ले ॥
राधास्वामी !

मेरी अपनी ही आत्मा के स्वरूप, सद्गुरुरूप भाई और बहनो, यह सत्संग इस बार के दौरे के सिलसिले में है। महात्मा जी ने आपको बहुत अच्छा सत्संग कराया और मालिक की महिमा बताई। सारा जगत् परमतत्त्वाधार मालिक की एक बूँद मात्र है, एक धारा मात्र है। हम उस मालिक के अंश हैं, अर्थात् उसीका छोटा स्वरूप हैं। हम उस

मालिक की बूंद की लीला में फँस गये। उस मालिक की लीला अद्भुत है तथा बहुत व्यापक है। इस लीला का मकसद क्या है? मालिक ने यह बखेड़ा क्यों किया? इसमें एक राज़ है। परमतत्त्वाधार मालिक सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ है। जीव का ज्ञान सीमित है और मालिक का ज्ञान असीम है, पूर्ण है। अब आप सोचिये कि मनुष्य की छोटी सी बुद्धि ने कितने आविष्कार किये हैं। जैट वायुयान बना दिये हैं, जिसमें सैकड़ों व्यक्ति हज़ारों मील हवा में उड़ते हैं। यह हवाई जहाज़ इतने सुन्दर हैं, इतने परिपूर्ण हैं कि उनमें कोई कमी नहीं है। एक्सीडैण्ट भी करोड़ों में से किसी एक का होता है। इस वायुयान के अन्दर ऐसे पुर्ज़े होते हैं कि वायुयान स्वयं चलता रहता है, चालक तो केवल साक्षी बनकर बैठा रहता है। लेकिन इतनी तरक्की करने के बाद भी मनुष्य के मन को शान्ति नहीं है। यह मेरी बेटी सोनू बैठी है। जब भी अमेरिका जाती है, 15 दिन के अन्दर वापिस आ जाती है। इसका अमेरिका में मन नहीं लगता। यह बात सत्य है कि जिसने भारत में जन्म नहीं लिया, उसे ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। जन्मभूमि स्वर्ग से भी ऊँची है। जो व्यक्ति जानता है कि मालिक क्या है? वह परमतत्त्व क्या है? जब उसकी एक बूंद मात्र में इतने बड़े चमत्कार हैं, तो वह स्वयं कैसा होगा? आप उस चमत्कार के अन्दर जगत् की लीला के अन्दर भूल जाते हैं कि लीला करने वाला कौन है? आप सब उसी मालिक का अंश हैं, जिसने अपनी कल्पना से सारा जगत् बनाया। जगत् है क्या? जगत् परमतत्त्व आधार की कल्पना है, मालिक की धार है। उस मालिक ने विचार किया और जगत् बन गया। तुम्हारे अन्दर भी वही विचार की शक्ति है। जैसा ख्याल वैसा हाल। जैसा विचार करते हो, वैसा ही हो जाता है।

मालिक की विचार की एक धारा से जगत् बना। मैं इसे उसकी वासना नहीं कहूंगा, बल्कि उस मालिक की मौज कहूंगा। जहाँ पर वासना होती है, वहाँ पर कमी होती है। आजकल के गुरु लोग वासना करते हैं कि हम अमेरिका चले जायें। वह लोग समझते हैं कि जब तक अमेरिका न जायें, उनके अन्दर गुरु बन्ने में कमी है। वह यह नहीं जानते कि हमारी आध्यामिकता के सामने अमेरिका कुछ नहीं है। हम सब परमतत्त्व अविनाशी हैं, आपके कण-२ के अन्दर अविनाशी की धारा है अर्थात् अविनाशी तत्त्व का अंश है। जिसे हम ढूंढ़ने चले हैं, वह इस जगत् का मालिक है। आपको उसकी पहिचान होनी चाहिए। गुरु कौन है? गुरु वही परमतत्त्वाधार, सर्वाधार राधास्वामी दयाल हैं, जिसने एक धारा से इतना भारी जगत् बनाया। वही गुरु आदि है, मध्य है और वही अन्त है। हम सद्गुरु की संगत करके इस भव से, जेलखाने से निकल सकते हैं।

गुरु मध्य आदि अनन्त अद्भुत अमल अगम अगोचरम्।
विभुविराजपार अपार निर्गुण सगुण सत्य विश्वेश्वरम्॥

यह मालिक का असली स्वरूप है। इन दो पंक्तियों में अमल शब्द आया है। अमल क्या है? अमल है, जिस पर कर्मों का मल नहीं होता। अर्थात् कर्मों के कारण पर्दे पर पर्दे पड़ जाते हैं, उसे मल कहते हैं। गुरु पर कर्मों का मल नहीं चढ़ा होता। तुम अपने आप में अमल हो, परमतत्त्व हो। तुम उस परमतत्त्व मालिक को ढूँढने चले हो, लेकिन वह तो तुम्हारे अन्दर मौजूद है। तुम्हें कहीं और तलाश करने की ज़रूरत नहीं है। हाँ, अब प्रश्न उठता है कि उस मालिक तक अर्थात् उस अवस्था तक कैसे पहुँचा जाये? हम भव के अन्दर फँस गये हैं और फँसने का कारण भी हम स्वयं ही हैं। यदि हम फँसने का कारण हैं, तो निर्वाण का

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

कारण भी हम स्वय ही बन सकते हैं। तुम्हारे अन्दर संकल्प की शक्ति है, स्वतन्त्रता है अर्थात् आज़ादी है। चाहो तो जगत् के अन्दर फँस जाओ और चाहो, तो जगत् से बाहर निकल जाओ। यह तुम्हारी मर्ज़ी पर निर्भर है।

राधास्वामी मत क्या है? राधास्वामी मत सनातन धर्म की आख़िरी सीढ़ी है। राधास्वामी मत सहजमार्ग व आसान तरीका है। इस मार्ग में कुछ कहना-धरना नहीं है। केवल नाम से ही उस परमतत्त्व में विलीन हो जाना है—

'नाम तार गूँजत रही भीतर'।

तुम्हारे अन्दर नाम की धारा है, उस धारा को पकड़ कर चलो। आपको सद्गुरु ने इतना आसान और सरल तरीका बता दिया, उस पर अमल करो। इस जगत् में फँसने का कारण है हमारी वासना। वासना का अर्थ है इच्छा। जो काम हम अपने स्वार्थ के लिए करते हैं, वह काम हमें बाँधता है। लेकिन सद्गुरु किसी भी कर्म के बन्धन में नहीं बँधता है। क्योंकि वह जो भी कार्य कर रहा है, वह अपने स्वार्थ के लिए नहीं कर रहा। वह उस कर्म से आज़ाद है और आपको भी आज़ाद करा देगा। जब तुम्हारी सारी ख्वाहिशात समाप्त हो जायेंगी, तब तुम कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाओगे और दुनिया की सारी चीजें तुम्हारे कदमों पर आकर गिरेंगी। गुरु वसिष्ठ ने भगवान् राम से कहा था "राम! बेख्वाहिशी की ख्वाहिश करो।" कल साधना ने मुझसे सवाल पूछा था, "महाराज जी! बेख्वाहिशी की ख्वाहिश भी तो ख्वाहिश है।" बहुत सुन्दर सवाल पूछा था। आम आदमी को लगता है कि बेख्वाहिशी की ख्वाहिश भी तो ख्वाहिश है। बेख्वाहिशी की ख्वाहिश करना, एक व्यावहारिक अमली तरीका है, जिस पर चलने से हम हर तरीके की ख्वाहिश से मुक्त होकर, पूर्ण हो सकते हैं। यह

एक तरीका है, विधि है, अर्थात् युक्ति है। आपके हाथों की मैल उतारनी है। मैल उतारने की युक्ति है कि हाथों पर साबुन लगाओ। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि तुम हाथों पर साबुन लगाकर बैठे रहो। इससे तो मैल और भी पक्की हो जायेगी। अरे हाथों पर साबुन लगाकर हाथों को पानी से अच्छी तरह धो डालो, तब मैल उतरेगी और साबुन भी हट जायेगा। बेख्वाहिशी की ख्वाहिश एक तरीका है, एक विधि है। अपनी इच्छाओं को, जितना बढ़ाते जाओगे, उतनी बढ़ती जायेंगी। इन इच्छाओं की कभी तृप्ति नहीं होगी।

एक मगध राज्य का राजा था। सारे भारत पर उसका राज्य था। उसके खज़ाने भरे हुए थे। उसके राज्य में किसी किस्म की कमी नहीं थी। राजा के दरबारियों ने कहा, "महाराज! आपका किसीके साथ कोई मुकाबला नहीं। सारे भारत पर आपका साम्राज्य है। बस एक नेपाल है, जिसको आपने नहीं जीता। यदि आप नेपाल को भी जीत लेंगे, तो आपका विश्व में नाम हो जायेगा। नेपाल बहुत अमोर है, वहाँ खज़ाने भरे पड़े हैं। वहाँ से आपको बहुत अधिक धन मिलेगा।" अब राजा को लालच आ गया और उसने नेपाल पर चढ़ाई करने का हुक्म दे दिया। सेना ने नेपाल पर चढ़ाई कर दी। नेपाल के लोग सीधे-सादे, वह बेचारे तोपों का क्या मुकाबला करते? गाँव के गाँव तबाह होने लगे। गाँव के बचे हुए कुछ लोग नेपाल के महाराजा के पास गये। और कहा, "महाराज यह क्या बला आ गई। गाँव के गाँव तबाह कर दिये।" महाराज ने सेना भेजी लेकिन सब मारी गई। कुछ बचे हुए सिपाही महाराजा के पास पहुँचे और सारी बात बताई। अब नेपाल के महाराजा ने अपने मन्त्रियों को तथा नागरिकों को बुलाकर विचार-

विमर्श किया। महाराजा ने कहा "इस मुसीबत से कैसे छुटकारा पाया जाये ?" उसी सभा में एक बूढ़ा ब्राह्मण बैठा था। उस ब्राह्मण ने सभा में उठकर कहा, "महाराज ! मैं इस मुसीबत से छुटकारा दिलवा सकता हूँ। मैं मगध के राजा के यहाँ रह चुका हूँ। मैं सब जानता हूँ कि उनके पास कितना धन है, कितनी शानोशौकत है। महाराज ! आप मुझे कुछ तोहफे मगध के राजा के लिए दे दीजिये।" नेपाल के महाराजा ने तोहफे के रूप में सूखे मेवे, कुछ गर्म शालें आदि वस्तुएँ दे दीं। जब बूढ़ा ब्राह्मण मगध के महाराजा के यहाँ पहुँचा, तो उसे आदर के साथ दरबार में बुलाया गया। ब्राह्मण ने कहा, "महाराज ! हम आपसे हार गये और आपसे सुलह करना चाहते हैं। हमारे महाराजा ने कुछ उपहार आपके लिए भेजे हैं। उपहार में सूखे मेवे, शालें आदि चीज़ें थीं। ब्राह्मण ने कहा, "महाराज ! नेपाल में सोना-चाँदी, हीरे-जवाहरात तो हैं नहीं। वहाँ के लोग मोटा खाते हैं और मोटा पहनते हैं। नेपाल एक ग़रीब देश है।" मगध के राजा ने कहा, "तुम अपने महाराजा के लिए कुछ उपहार हमारी तरफ से लेते जाओ।" उपहार में मशीनें, ज़री के कपड़े तथा कीमती सामान पेश किया गया। ब्राह्मण ने कहा, "महाराज ! मैं क्षमा चाहता हूँ। हमें पता नहीं कि इन चीज़ों का प्रयोग कैसे करते हैं ? हम तो सीधे-सादे लोग हैं। महाराज ! यदि आपको देना ही है तो थोड़ा सा सोना दे दीजिये। हमने कभी सोना नहीं देखा। न हमारे यहाँ सोना होता है।" राजा ने कहा, "तुम्हें जितना सोना चाहिए ले जाओ।" ब्राह्मण ने कहा, "महाराज हमें ज्यादा सोने का क्या करना है ? मेरे पास एक छोटी सी हड्डी है, बस उसीके बराबर दे दीजिये।" राजा ने तराज़ू मँगाई और एक तरफ हड्डी को रखा और दूसरी तरफ सोना रखा। लेकिन हड्डी

भारी थी। राजा ने अधिक सोना मँगाकर रखा, लेकिन हड्डी भारी रही। राजा ने बढ़ी तराज़ू मँगाई और खज़ाने में से सारा सोना मँगाकर रखा लेकिन फिर भी हड्डी भारी थी। राजा ने कहा "यह तो कोई चमत्कार है।" ब्राह्मण ने कहा, "महाराज! यह कोई चमत्कार नहीं है। यह तो एक लालची व्यक्ति की खोपड़ी की एक छोटी सी हड्डी है। महाराज! आप सम्पन्न हैं, आपके पास सब कुछ है, फिर भी आपको नेपाल जीतने की हवस हुई। जबकि नेपाल में कुछ है ही नहीं। महाराज हमें आप क्षमा करें।" ब्राह्मण की बात सुनकर राजा की आँख खुल गई। उसने सोचा कि मैं कहाँ तक हवस के पीछे भागूंगा। राजा ने ब्राह्मण को गुरु माना और नेपाल को आज़ाद कर दिया। राजा स्वयं धर्म के रास्ते पर चलने लगा।

अमल कैसे हो? बेख्वाहिशी की ख्वाहिश में हम आपको धीरे-२ ले जायेंगे। आपकी इस संसार में कुछ भी छोड़ने की ज़रूरत नहीं है, न आपको घबराने की ज़रूरत है। आप सब कुछ पाना चाहते हैं। आपको सब कुछ मिलेगा। मैंने आपको बताया :—

गुरु दाता दानी कृपाल महा, याचक जगजीव हुए सारे।
गुरु अर्थ देत गुरु धर्म देत, गुरु काम मोक्ष देने हारे॥

सारी दुनिया याचक है, माँगने वाली है। गुरु दाता कृपाल है, महान् है। वह क्या देता है?

गुरु अर्थ देत गुरु धर्म देत, गुरु काम मोक्ष देने हारे।

तुम्हारी आर्थिक स्थिति भी सुधर जायेगी। वह अर्थ ऐसा देता है, जो धर्म बन जाता है। उस धन से दूसरों को भी फायदा पहुँचता है। धन घर में रखने के लिए नहीं होता। अपने धन को कल्याण के काम में लगाओ। गुरु तुम्हारे धन का भूखा नहीं है।

शिष्य को ऐसा चाहिए, गुरु को सब कुछ देय।
गुरु को ऐसा चाहिए, शिष्य से कुछ न लेय ॥

तुम तन, मन, धन गुरु को दो। कहने का मतलब है कि जब तुम उससे प्रेम करोगे उसे अपना इष्ट बनाओगे, तो तुम्हें बेख्वाहिशी की ख्वाहिश हो जायेगी। तुम्हें सिर्फ गुरु ही दिखाई देगा और कुछ नहीं दिखाई देगा। अरे गुरु के पास किसी चीज़ की कमी नहीं है। वह तो देने के लिए आया है। वह तो तुम्हें दयाल देश ले जाने के लिए आया है। तुम काल देश के अन्दर हो। उसको तुम्हारी किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है। स्वामी जी महाराज ने कहा है :—

वह नहीं भूखा तेरे धन का, उस पे धन है नाम रतन का।
पर तेरा उपकार करायें, भूखे नंगे को दिलवायें॥

अब गुरु को तो किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है। वह देता क्या है?

गुरु अर्थ देत गुरु धर्म देत,
गुरु काम मोक्ष देने हारे।

गुरु तुम्हें ऊँचा उठाने के लिए, कल्याणकारी बनाने के लिए धन देता है। आम आदमी धन मिलने पर लोभी हो जाता है। वह धन एकत्र करने में लगा रहता है। जब मरता है तो साँप बनकर धन पर बैठ जाता है। गुरु अर्थ के साथ-२ धर्म देता है। वह तुम्हारी कामनाओं की, इच्छाओं की तृप्ति करता है। काम यदि प्रेम में परिवर्तित हो जाये, तो इससे अच्छी और कोई बात नहीं होती। गुरु तुम्हारी कामनाओं को इष्ट की तरफ अर्थात् मोक्ष की तरफ लगा देता है। वह तुम्हारी कामनाओं को परिवर्तित करके आकांक्षा बना देगा। उस आकांक्षा से तुम्हें मानव से प्यार होगा और सारा जगत् तुम्हें प्यार करेगा। सद्गुरु की यही महिमा है कि वह तुम्हारा लोक और परलोक दोनों बना

देगा। यदि तुम्हें जगत् में बेख्वाहिशी की ख्वाहिश करनी है, तो उस परमतत्त्व आधार, उस मालिक को अपना इष्ट बनाओ, जो तुम्हारे अन्दर भी है और बाहर भी ज्ञानदाता गुरु के रूप में है।

गुरु मध्य आदि अनन्त, अद्‌भुत अमल अगम अगोचरम्।

गुरु आदि है, मध्य है और अन्त है। 'अमल अगोचरम्' उस पर कर्मों का मल नहीं है। यही अन्तर है सद्‌गुरु में और आम आदमी में। सद्‌गुरु जो कर्म करता है, ऐसा लगता है कि वह आम मनुष्य की तरह कर रहा है, लेकिन उसका कर्म उसे नहीं बाँधता, न किसी दूसरे को बँधवाता है। सद्‌गुरु तुम्हारे कर्म कटवाता है। गुरु वह नहीं, जो शिष्य को बाँधे। गुरु को तुम्हारे तन, मन, धन की आवश्यकता नहीं है। वह तो तुम्हें अपना जैसा बनाने के लिए ही आया है। उसको किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं। यदि गुरु अपने धन के लिए, अपने मान के लिए, अपनी इज़्ज़त के लिए, यह सब पाखण्ड करता है, तो ऐसे गुरु को छोड़ देना चाहिए।

हरहिं शिष्य धन रोग न हरहिं।
सो गुरु घोर नरक में परहिं॥

'अमल अगम अगोचरम्'। गुरु अमल इसलिये है कि उस पर कर्मों का भार नहीं है। वह जो भी कर्म करता है, अपनी ख्वाहिश के लिए नहीं करता, बल्कि तुम्हारी ख्वाहिश को बेख्वाहिश बनाने के लिए, अर्थात् तुम्हारे कर्मों को कटाने के लिए करता है। यह अन्तर होता है सद्‌गुरु में और आदमी में। सद्‌गुरु तुम्हें अपना जैसा बना देता है। 'अमल अगम अगोचरम्'। वह सिर्फ ईश्वर नहीं है बल्कि विश्व का ईश्वर है, जगत् का मालिक है। जब ऐसे गुरु के पास रहोगे तो वैसे ही बन जाओगे और तुम्हारी दुनिया की

सभी इच्छाएँ समाप्त हो जायेंगी। तुम्हें किसी चीज़ की कमी नहीं रहेगी।

जेही मति लखे नहीं गति लखे, यह शुद्ध तत्त्व विचार है।
जो चरन कमल की ओट आया, भव से बेड़ा पार है ॥

तुम तो उसके कपड़ों को देखते हो, टाई को देखते हो, तुम कहते हो कि वह तो अमेरिका होकर आया है। अरे अमेरिका जाने वाला आई. सी. शर्मा तो रहा नहीं, वह तो

हद से टपे सो औलिया, बेहद टपे सो पीर।
हद बेहद दोनों टपे, ताको कहें फकीर ॥

सद्गुरु का रूप हो गया, फकीरमय हो गया।

हद से टपने का मतलब है कि शरीर से ऊपर उठकर मन के अन्दर स्थित हो जाना। मन के स्थिर होने से सिद्धि-शक्ति आ जाती है। सिद्धिशक्ति कोई बड़ी बात नहीं है। जब भी आप अपने मन को किसी नाम या रूप पर केन्द्रित करोगे, तो सिद्धिशक्ति अपने आप आ जायेगी। जिसके पास सिद्धिशक्ति आ जाती है, वह भविष्य की बात, आपके मन की बात बता सकता है। 'हद से टपे' शरीर से निकलकर मन में आ गया अर्थात् बेहद में आ गाया। मन से आगे प्रकाश के अन्दर उसका मन एकाग्र हो गया और वह आत्मा में ठहर गया। ऐसे व्यक्ति को आत्मा का ज्ञान हो जाता है, वह दूसरों को रास्ता दिखा सकता है। 'बेहद टपे सो पीर'। ऐसे व्यक्ति को गुरु मान लो। लेकिन वह गुरु भी पूरा नहीं है, लेकिन वह पीर कहलायेगा। 'हद बेहद दोनों टपे'। जो हद बेहद दोनों से निकल गया, आत्मा से निकल गया, वह शुद्ध तत्त्व विचार है, वह अपनी असली हस्ती में आ गया, उसका मुकाबला जगत् की किसी चीज़ से नहीं किया जा सकता। उसे फकीर कहते हैं। इसीलिये उसको कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं कहते हैं। कुछ नहीं का मतलब है कि

वह शरीर नहीं, मन नहीं, आत्मा नहीं, वह तो शुद्ध तत्त्व विचार, ज़ाते पाक है। वह तुम्हारे सबके अन्दर उसी मालिक को देखता है, जो सर्वाधार है और आत्मा से भी परे है। इस अवस्था में रहने वाला गुरु प्रकाश की सभी हदों को पार कर जाता है। ऐसे सद्‌गुरु को शुद्ध तत्त्व विचार एवं हस्ती मात्र कहा जा सकता है।

'जो चरन कमल की ओट आया, भव से बेड़ा पार है।'

यह ज़रूरी नहीं है कि जिनके बड़े-२ डेरे हैं, वह निर्बन्ध पुरुष हैं या शुद्ध तत्त्व विचार हैं। ऐसे व्यक्ति तो खुद ही फँसे हुए होते हैं।

'न अपना नाम तुम रखना, न कोई भी निशाँ रखना।'

लोग मकान बनवाते हैं और मकान पर लिखवा देते हैं—'ईश्वर निवास'। जब तुमने अपना निवास यहाँ बनवा लिया, तो तुम ऊपर कैसे जाओगे ? जब तुम्हारा नाम पत्थर में लिखा है, तो तुम्हारी साँस तो नीचे अटकी रहेगी। यह बात तो आनन्द परमानन्द की अवस्था वाला व्यक्ति ही कह सकता है।

'जो चरन कमल की ओट आया, भव से बेड़ा पार है।'

जब तुम सद्‌गुरु के निकट आ जाओगे, तो वैसे ही बन जाओगे, जैसे मैं फकीर के निकट आकर फकीरमय हो गया।

गुरु विष्णु मूरत शिव की सूरत, गुरु को ब्रह्मा जान तू।
गुरु ब्रह्म हैं परब्रह्म हैं, यह सोच-समझ के मान तू॥

तुम ब्रह्मा की स्तुति करो। ब्रह्मा का यज्ञ करो। जब ब्रह्मा ने सृष्टि रची तो मनुष्य को कहा कि यह देवता हैं। तुम देवताओं को यज्ञ में आहुति दिया करो, और उसके बदले में देवता तुम्हें लाभ पहुँचायेंगे और तुम्हारी इच्छाओं

की पूर्ति करेंगे। तुम दोनों आपस में सहयोग से रहो। जगत् के अन्दर आनन्द से रहो। गुरु ब्रह्म है। ब्रह्मा जगत् को उत्पन्न करने वाला, जगत् का विधाता है, लेकिन ब्रह्मा, विष्णु के आधीन है। ब्रह्मा विष्णु की नाभि से ही तो निकले हैं। यह जो ब्रह्मा विराट् दिखाई देता है, जिसकी शक्ति कण-२ के अन्दर, परमाणुओं के अन्दर चल रही है, बड़े-२ सौरमंडल, आकाशगंगाएँ चल रहे हैं, जिसका स्वरूप विराट् है, जो भगवान् कृष्ण ने दिखाया था, वह ब्रह्मा अर्थात् विराट् स्थूल है, उसके पीछे एक और शक्ति है, जो सूक्ष्म शक्ति हैं और ब्रह्माण्डी मन है। इसी ब्रह्माण्डी मन को विष्णु कहा जाता है, जिसे सन्तमत में अव्याकृत का नाम दिया गया है। गुरु जो मनुष्यरूप में उपस्थित हैं, उसी विराट् और विष्णु का साक्षात्रूप है, जो जगत् को पैदा करने वाला और उसको बनाये रखने वाला है। ब्रह्माण्डी मन ब्रह्माण्डी आत्मा या कारण शरीर बीजरूप तत्त्व पर आधारित है, जो प्रकाशमय है। वह इसी तत्त्व से निकला है और उसीमें विलीन हो जाता है। इसलिये उसे शिव संहार कर्त्ता कहा गया है। यहाँ पर संहार का अर्थ नष्ट करना नहीं है, बल्कि ब्रह्माण्डी मन को अपने गर्भ में बीजरूप में विलीन कर देना है। इसी शिव या ब्रह्माण्डी आत्मा को सनातन धर्म और सन्तमत हिरण्यगर्भ कहते हैं। मानव-शरीर में अवतरित गुरु उसी ब्रह्माण्डी आत्मा के कारण प्रकाशपुञ्ज है। इसलिये समाधि ध्यान के समय गुरु का रूप प्रकाश में बदल जाता है। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और शिव तत्त्वों को गुरु में मौजूद समझना चाहिए।

इसी कड़ी के अन्तिम भाग में यह कहा गया है कि गुरु ब्रह्म और परब्रह्म हैं और इस सच्चाई को हमें पूरी तरह से सोच-समझकर मान लेना चाहिए। जीवित गुरु का विष्णु

अंग या मानसिक रूप प्रकट होता है और उसीके कारण पूर्ण विश्वास रखने वाले सत्संगी को चमत्कारी अनुभव होते हैं। उसी जीवित गुरु का विशुद्ध अमल आत्मा सत्संगी के अन्तर में प्रकाशमय परिवर्तित हो जाता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिवतत्त्व उस व्यापक ब्रह्म से निकले हैं, जिसे महा-कारण कहा जाता है और जिसे सभी देवताओं का पैदा करने वाला माना जाता है। इसलिये गुरु को अच्छी तरह से और विवेक से ब्रह्म स्वीकार करना चाहिए, ताकि सत्संगी अन्त समय में गुरु के स्थूल ब्रह्मारूप सूक्ष्म विष्णुरूप और कारण शिवरूप एवं बीजरूप में आसक्त न हो। न ही केवल इतना बल्कि उसके ब्रह्म एवं महाकारणरूप से परे उसे परब्रह्म अर्थात् परमपुरुष मानकर परमपद को प्राप्त करे।

गुरु के इस प्रकार पूर्णरूप को समझने के लिए उसके लगातार सत्संग की ज़रूरत होती है। इसलिये अगले पद्य में दाता दयाल जी फ़रमाते हैं :—

कर गुरु की संगत रात दिन, नर जनम अपना सुधार ले।
दे फेंक माया बोझ सिर से, यम का शीश न भार ले।।

यहाँ पर गुरु की संगत का अर्थ गुरु के सत्संग में बैठ-कर उसकी वाणी की धारा में स्नान करते हुए, उसकी किरणों से प्रभावित होना भी है और उसके साथ इसका मतलब यह भी है कि सत्संगी लगातार गुरु के शारीरिक, मानसिक, आत्मिक ब्रह्म और परब्रह्म रूपों का मन में लगातार सुमिरन करते हुए उसके प्रेम में ओत-प्रोत होकर और उसके गुणों को जीवन में अपनाकर गुरु जैसा बन जाना है। इस प्रकार लगातार गुरु के ध्यान में रहते हुए, हर जगह गुरु की उपस्थिति मालूम होने लगती है। साधक का 'मैं' समाप्त हो जाता है और वह जीवन्मुक्ति की अवस्था पा जाता है। वह सांसारिक जीवन की धारा में न बहता हुआ उलटकर धारा को राधा बनाकर एवं

सुधार या अच्छी धारा बनाकर गुरुमय हो जाता है। इस अवस्था के पा जाने से उसके पिछले हजारों जन्मों के संचित कर्म समाप्त हो जाते हैं और उसके नये कर्म भी बन्धन का कारण नहीं बनते।

केवल प्रारब्धकर्मों को भोगने के लिए साधक को लगातार सद्गुरु के पराप्रेम में इतनी गहराई से ओत-प्रोत रहना पड़ता है कि उसे शारीरिक अनुभवों, मानसिक अनुभवों और आत्मिक अनुभवों से ऊपर उठ जाना पड़ता है। इसी बात को इस शब्द के आखिरी पद्य में स्पष्टरूप से व्यक्त किया गया है।

शीश दे तन मन को दे, गुरु भक्ति रतन अमोल ले।
राधास्वामी भेद बताया तुमको, हिये तराजू तोल ले॥

यहाँ पर तन, मन और आत्मा को पूरी तरह से समर्पित कर देने का मतलब शारीरिक अनुभवों, मानसिक अनुभवों और आत्मिक अनुभवों से वंचित हो जाना नहीं है, बल्कि उन अनुभवों का एक ऐसा सुन्दर समन्वय कर देना है, जिसमें शरीर की स्वस्थता, मन के सुख और आत्मा के आनन्द के अलावा, उस परमसुख की अवस्था का भी अनुभव हो जाता है, जिसे विदेहमुक्ति कहते हैं और जिसको पाकर साधन अभ्यास की भी ज़रूरत नहीं रहती। इस परा-अवस्था को 'भक्ति रतन अमोल' कहा गया है। इसी हालत में ही सत्संगी कबीर साहिब के नीचे दिये गये पद्य की सच्चाई का साक्षात् अनुभव कर लेता है :—

माला फेरूँ न हर भजूँ मुख से कहूँ न राम।
मेरा राम मुझको भजे, तब पाऊँ विश्राम॥

मेरे परमप्रिय आत्मस्वरूप, सद्गुरुरूप सत्संगियो! इसी भेद को खोलने के लिए राधास्वामी तत्त्व सन्त अवतार धारण करके आता है और अनन्त प्रेम की धारा बहा देता

है। उसके सम्पर्क और सत्संग में आना तो आपके कई जन्मों के अच्छे प्रारब्धकर्मों का फल है। लेकिन इस स्वर्ण अवसर को पाने के बाद भी उस पर अमल करना या न करना आपकी संकल्प की स्वतन्त्रता पर निर्भर करता है। इसलिये ऊपर के पद्य की आखिरी कड़ी में कहा गया है :—

राधास्वामी भेद बताया तुमको, हिये तराज़ू तोल ले।

इस आदेश का समझना बहुत ज़रूरी है। अगर सत्संगी पराप्रेम और पराभक्ति को अपना लेता है, तो मालिक की मौज उसके सभी कामों को सफल बनाती हुई, उसे अन्त में परमधाम पर पहुँचा देती है। अगर वह गुरु की इस प्रेम-मयी और सच्ची आज्ञा का पालन नहीं करता, तो उसका रास्ता लम्बा हो जाता है और सम्भवतया उसे मञ्ज़िल पर पहुँचने के लिए अनेक जन्म लेने पड़ते हैं। इसलिये हरएक सत्संगी को चाहिए कि वह इसी जीवन में, इसी समय परा-भक्ति के रास्ते को अपना ले, ताकि उसे अन्त में पश्चात्ताप न करना पड़े। इसी बात को नीचे दिये गये पद्य में समझाया गया है :—

एक नाम से सब कुछ मिलता, नव निधि सिद्धिशक्ति।
जीते जी नर पावे मुक्ति, करे जो नाम की भक्ति॥

नाम की भक्ति वही पराभक्ति और पराप्रेम है, जिसकी व्याख्या मैंने आज के सत्संग में की है। मैं सच्चे दिल से चाहता हूँ कि यह सत्संग आपकी रहनी को बदल दे और सहज में ही आपके लोक और परलोक दोनों बन जायें।

सबको राधास्वामी !

देवासुर-संग्राम और उद्गीथ

दाता दयाल महर्षि शिवव्रत लाल जी महाराज

ईश्वर ने सृष्टि रचते समय देवता और दैत्य दो प्रकार के जीव उत्पन्न किये। देवों को सुर तथा दैत्यों को असुर भी कहा जाता है। दोनों प्रकार के जीवों का स्वभाव एक-दूसरे से बिलकुल ही भिन्न है और दोनों आपस में लड़ते-झगड़ते ही रहते हैं। देवता शुभ आचरण वाले सतोगुणी होते हैं, परन्तु दैत्य अशुभ आचरण वाले तमोगुणी होते हैं। इन दोनों की लड़ाई को देवासुर-संग्राम कहते हैं। इनकी हालत कुत्ते-बिल्ली जैसी ही है। यह सदैव लड़ते ही रहे, लड़ते ही रहे। कभी असुर जीते और देवता हारे, कभी देवता जीते और असुर हारे। देवता इन असुरों से घबरा जाते, क्योंकि असुर देवताओं से बलवान् थे। हम सबके शरीर के अन्दर में तथा प्रकृति के पत्ते-पत्ते, बून्द-बून्द और रेत के छोटे-२ परमाणु में भी दैत्य तथा देवता निवास करते हैं। संसार में कोई जगह भी ऐसी नहीं जहाँ दोनों लड़ाई-झगड़ा न करते हों।

जब देवताओं को इस बात की समझ आई कि यदि उद्गीथ (उधर का राग, अन्तर का राग, प्रणव, ॐ अथवा अनहद धुन) गाया जाय, तो असुर सदैव के लिए हार जायेंगे, तो वे आँख से बोले, "तू हमारे लिए उद्गीथ गा जिससे कि हम दैत्यों के ऊपर विजय पा लें। आँख ने गीत गाया अपने लिए अच्छा परन्तु दूसरों के लिए बुरा। असुर वहाँ पहुँचे, आँख को अपने पाप से छू दिया। वह निर्बल हो गई,

तब देवता हारे तथा असुर जीत गये।

तब देवताओं ने कान से उद्गीथ गाने की प्रार्थना की। कान ने भी अपने लिए अच्छा-२ और दूसरों के लिए बुरा-२ गाया। असुरों ने वहाँ पहुँचकर कान को भी पाप से छू लिया और देवता हार कर भाग गये।

तब देवताओं ने जिह्वा से उद्गीथ गवाया। जिह्वा ने भी अपने लिए अच्छा दूसरों के लिए बुरा गाया। असुरों के पाप के छूने से, उसका भी वही हाल हुआ और देवता हार गये।

तब नाक, मन तथा हाथ आदि से बारी-२ उद्गीथ गवाया गया। इन सबने भी अच्छा-२ अपने लिए और बुरा-२ औरों के लिए गाया और असुरों के पाप के छूने से सब नष्ट-भ्रष्ट हो गये देवताओं की हार ही होती रही।

अन्त में देवताओं ने प्राण से उद्गीत गाने की प्रार्थना की। प्राण में बुराई-भलाई, अपना-पराया और द्वेष का भाव नहीं होता। (क्या आपने कभी ध्यान दिया है कि प्राण सोते समय भी सबके चलते रहते हैं चाहे चोर चोरी करे तथा साधु भलाई करे, वह किसी की ओर ध्यान नहीं देते)। प्राण ने जब उद्गीथ गाया तो दैत्य उसे सुनकर वहाँ पहुँचे। उन्होंने प्राण को भी अपने पाप से छूना चाहा। परन्तु उसे छूते ही ऐसे भ्रष्ट हुए कि फिर उनका ठिकाना न रहा। देवताओं की जीत हुई और दैत्य हार कर भाग गये।

जो लोग प्राण से उद्गीथ गाते हैं उनको सच्ची विजय प्राप्त होती है और शत्रु ऐसे नष्ट होते हैं जैसे एक मिट्टी का ढेला किसी चट्टान से टक्कर खाकर पिस जाता है।

यदि मनुष्य प्राण के इस भाव को लेकर अनहद वाणी का साधन करे तो जगत् के संग्राम में उसे भी विजय ही मिलेगी।

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

शब्द

1. राग अनहद का सूनो, अन्तर में अपने आन कर।
   चित की वृत्ति रोक लो, सुमिरन, भजन और ध्यान कर॥
2. आँख, कान और मुख को मूँदो, यह सुगम साधन करो।
   चढ़ चलो घट के गगन में, पुतलियों को तान कर॥
3. गुरु से गुरु गम ले के, सत्संग में सीखो यह यतन।
   काम में लग जाओ फिर, उपदेश को सत् जान कर॥
4. बाहरी बातों को छोड़ दो, अन्तरी साधन करो।
   शब्द का लो आसरा, तुम इसकी महिमा जान कर॥
5. राधास्वामी ने कहा, गुरु करना, गुरु को जान कर।
   पानी पीना पीछे, पहले पानी लेना छान कर॥

दिव्य माता की उपासना

न्यूयार्क में जून 1900 में दिया गया स्वामी विवेकानन्द का एक भाषण

संसार के प्रत्येक धर्म में, मनुष्य, वंश अथवा कबीले के देवता से आरम्भ करके, देवताओं के अधिदेव ईश्वर तक पहुँचता है।

भारत में, पौराणिक अभिव्यक्ति को दबाया गया, पर उसका भाव तो जीवित रहा। एक मन्त्र प्राचीन वेद का मिलता है, जिसमें लिखा है, "मैं जीवितमात्र की सम्राज्ञी, सब वस्तुओं की शक्ति हूँ।"

मातृ-पूजा स्वयं अपने में एक विशिष्ट दर्शन है। हमारे विचारों में शक्ति का स्थान प्रथम है। वह प्रत्येक पद पर मनुष्य से टकराती है। अभ्यंतर में अनुभूत शक्ति आत्मा है, बाहर अनुभूत शक्ति प्रकृति है। दोनों के बीच जो संघर्ष होता है, उससे मनुष्य के जीवन का निर्माण होता है। जो कुछ हम जानते तथा अनुभव करते हैं, वह सब केवल इन दो शक्तियों का ही परिणाम है। मनुष्य ने देखा कि सूर्य शुभ और अशुभ पर एक सा चमकता है, उसे ईश्वर के बारे में एक नया विचार मिला, सबके पीछे उसे विश्व-व्यापी शक्ति के रूप में—मातृ-विचार का ध्यान आया।

सांख्य के अनुसार, क्रियाशीलता धर्म है प्रकृति का, पुरुष अथवा आत्मा का नहीं। भारत में सभी स्त्रीप्रकारों में माँ ही सबसे ऊपर है। माँ सब बातों में सन्तान का साथ

देती है। पत्नी और सन्तान मनुष्य को त्याग सकती हैं, पर माँ कभी नहीं त्यागती। माँ विश्व की निष्पक्ष शक्ति है, जो अपने निःस्वार्थ प्रेम के कारण कुछ माँगती नहीं, कुछ चाहती नहीं, अपनी सन्तान के अवगुणों को देखती ही नहीं, बल्कि उससे और अधिक प्यार करती है।

लक्ष्य का वर्णन केवल ऐसी वस्तु के रूप में किया जाता है, जो अभी प्राप्त नहीं हुई हो। यहाँ कोई लक्ष्य नहीं है। सारा संसार एक समान माँ की लीला ही है। पर हम इसे भूल जाते हैं। जब स्वार्थ नहीं रहता, जब हम स्वयं अपने जीवन के साक्षी बन जाते हैं, तो दुःख का भी आनन्द लिया जा सकता है। इस दर्शन के विचारक, इस विचार से प्रभावित हुए कि सब घटनाओं के पीछे शक्ति एक है। ईश्वर सम्बन्धी हमारी धारणा में मानवीय सीमा—व्यक्तित्व है। मातृ-शक्ति के साथ एक सर्वव्यापी बल का विचार आता है। उपनिषदों ने इस बल पर विचार नहीं किया, क्योंकि वेदान्त ईश्वर के विचार को इतना महत्त्व नहीं देता। परन्तु गीता में अर्जुन के प्रति यह गम्भीर कथन आता है, "मैं सत् हूँ और मैं असत् हूँ। मैं शुभ लाता हूँ और मैं अशुभ लाता हूँ।"

फिर यह विचार सो गया। उसके साथ एक नया दर्शन आया कि यह विश्व शुभ और अशुभ का एक संघात है और दोनों के द्वारा एक ही शक्ति की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। 'एक लँगड़ा, एक टाँग का विश्व, केवल एक लँगड़ा, एक टाँग का ईश्वर दर्शाता है और अन्त में हममें सहानुभूति का अभाव कर देता है और हमें पाशविक बना

देता है। ऐसी भावना का निर्मित नीति-शास्त्र, पशुता का नीति-शास्त्र है।

केवल माँ के प्रति चिरन्तन सम्पूर्ण आत्म-समर्पण ही हमें शान्ति प्रदान कर सकता है। भय और लाभ की भावनाओं को अलग रखकर माँ से माँ के निमित्त ही प्रेम करो। माँ से प्रेम इसलिये करो, क्योंकि तुम माँ की सन्तान हो। तभी आपको 'समता' और 'चिरन्तन' आनन्द की प्राप्ति होगी और माँ स्वयं माँ आयेगी और हम उसको इस प्रकार पा जायेंगे। उस समय तक, दुःख हमारा पीछा करता रहेगा जब तक हम माँ को भूले रहेंगे। केवल माँ के आश्रय में ही हम सुरक्षित हैं।

शब्दों द्वारा भक्ति

स्वामी विवेकानन्द

शरीर मन का ही स्थूलतर रूप है और मन सूक्ष्मतर स्तरों से बना हुआ है। जब मनुष्य का मन पूर्णतया उसके वश में आ जाता है, तो उसका शरीर भी उसके वश में आ जाता है। जिस प्रकार प्रत्येक मन का अपना विशेष शरीर होता है, उसी प्रकार, प्रत्येक शब्द एक विशेष विचार का अंग होता है। जब हम क्रुद्ध होते हैं तो कहते हैं—'बुद्धू', 'मूर्ख', 'गधा' आदि। जब हम करुण होते हैं, तो कोमल स्वरों का उपयोग करते हैं—"अरे राम!" निश्चय ही ये क्षणिक भाव हैं। परन्तु कुछ चिरन्तन भाव भी होते हैं जैसे प्रेम, शान्ति, स्थिरता, आनन्द, पवित्रता और सब धर्मों में इन भावों की शब्दाभिव्यक्ति हुई है। शब्द मनुष्य के इन उच्चतम भावों के केवल शरीर हैं। विचार, शब्द उत्पन्न करता है और अपनी बारी आने पर शब्द विचार अथवा भाव उत्पन्न कर सकते हैं। यहीं शब्दों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। ऐसा प्रत्येक शब्द एक आदर्श का द्योतन करता है। हम सब इन पवित्र और रहस्यमय शब्दों को जानते और पहचानते हैं। किन्तु जब हम उन्हें केवल पुस्तकों में पढ़ते हैं, तो वे हमें प्रभावित नहीं करते। उनके प्रभावशाली होने के लिए यह अति आवश्यक है कि वह आत्मा से आविष्ट हों और उनका स्पर्श तथा उपयोग कोई ऐसा व्यक्ति कर चुका हो, जो जीवित हो और जिसे स्वयं परमात्मा की चेतना का स्पर्श प्राप्त हो। केवल ऐसा ही

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

पुरुष, इस धारा को चालू कर सकता है। 'हाथ रखने की क्रिया' उसी धारा को चालू रखने की क्रिया है, जिसका आरम्भ ईसा ने किया था। जिसमें धाराप्रवर्तन की यह शक्ति होती है, वह गुरु कहलाता है। ईसा जैसे महान् पुरुषों के लिए शब्दों का यह उपयोग आवश्यक नहीं है, परन्तु 'छोटे लोग' इस धारा को शब्दों द्वारा संचारित करते हैं।

दूसरों के दोष न देखो। तुम मनुष्य को उसके दोषों से नहीं जान सकोगे। (जैसे हम सेब के किसी वृक्ष की उत्तमता का निर्णय, उसके नीचे पड़े सड़े, कच्चे तथा अविकसित फलों के आधार पर नहीं कर सकते, उसी प्रकार मनुष्य के अवगुण या दोष, उसके चरित्र नहीं दर्शाते)। याद रखो कि बुरे लोग संसार भर में सदा एक जैसे होते हैं। एशिया, योरुप और अमेरिका में चोर, हत्यारे एक से हैं। उनकी स्वयं अपनी एक जाति है। विविधता तो केवल भलों, पवित्र व्यक्तियों तथा शक्तिशालियों में ही मिलती है। दूसरों में बुराई न देखो। बुराई अज्ञान है, दुर्बलता है। लोगों को यह बतलाने से क्या लाभ कि उनमें दुर्बलता है, वे दुर्बल हैं? आलोचना और खण्डन से कोई लाभ नहीं होता। हमें लोगों को कुछ ऊँची वस्तु देनी चाहिए। उन्हें उनके गरिमामय स्वरूप की, उनके जन्मसिद्ध अधिकार की, बात बतानी चाहिए। बहुत से लोग ईश्वर की ओर क्यों नहीं आते? क्योंकि अधिकतर लोगों को उनकी पाँच इन्द्रियों के बाहर आनन्द नहीं आता। अधिकतर लोग अन्तर्जगत् में न तो अपनी आँखों से देख सकते हैं और न ही अपने कानों से सुन सकते हैं।

अब हम 'प्रेम द्वारा उपासना' पर आते हैं।

यह कहा गया है 'गिरजे में पैदा होना तो अच्छा है, पर उसमें मरना नहीं।' जब वृक्ष एक पौधे के रूप में होता

है, तो वह चारों ओर की रुंधाई से सहारा और आरक्षण पाता है। परन्तु जब तक उस पौधे के चारों ओर की बाड़ हटाई नहीं जाती वह पनप नहीं सकता। उसकी वृद्धि और मज़बूती को हानि पहुँचती है। इसमें सन्देह नहीं कि औपचारिक पूजा, एक आवश्यक अवस्था है, पर धीरे-२ विकसित होकर, हम उससे बाहर निकल जाते हैं और एक उच्चतर भूमि में पहुँच जाते हैं। जब ईश्वर के प्रति प्रेम पूर्ण हो जाता है, तो फिर हम ईश्वर के गुणों के बारे में नहीं सोचते। यह नहीं सोचते कि वह सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी और महान् विशेषणों वाला है। क्योंकि हम ईश्वर से कुछ चाहते नहीं, इसलिये इन गुणों की ओर ध्यान देने की हमें चिन्ता क्यों? परन्तु मनुष्यरूपता फिर भी हमारे साथ रहती है और अपने मनुष्यपन से हम छुटकारा नहीं पा सकते, हम अपने शरीर से बाहर नहीं कूद सकते, इसलिये हमें ईश्वर से उसी प्रकार प्रेम करना पड़ता है, जैसे कि हम एक-दूसरे से प्रेम करते हैं।

मानव-प्रेम में पाँच अवस्थाएँ होती हैं :—

(1) निम्नतम, सबसे साधारण, शान्तप्रेम है। इसमें हम रक्षा, भोजन आदि अपनी सभी आवश्यकताओं के लिए अपने पिता की ओर देखते हैं।

(2) वह प्रेम जो हममें सेवाभाव जगाता है। इसमें मनुष्य ईश्वर की सेवा अपने स्वामी की भाँति करना चाहता है। सेवा की इच्छा उस समय इतनी तीव्र हो जाती है कि हम इस बात के प्रति उदासीन हो जाते हैं कि स्वामी भला है अथवा बुरा, सदय है अथवा निर्दय।

(3) मित्र का प्रेम, बराबर वालों का, सखाओं का प्रेम। इसमें मनुष्य अपने को ईश्वर का सखा महसूस करता है।

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

(4) मातृवत् प्रेम : इसमें ईश्वर को शिशु समझा जाता है। भारत में इस प्रेम को पूर्वगामी प्रेम से भी ऊँचा माना जाता है, क्योंकि इसमें भय का तत्त्व बिलकुल शेष नहीं रह जाता।

(5) पति और पत्नी का प्रेम : इसमें प्रेम केवल प्रेम के लिए ही होता है। ईश्वर सब प्रकार से पूर्ण प्रेमास्पद है।

इस भाव को बहुत ही सुन्दर तरीके से अभिव्यक्त किया गया है, "आँखें चार होती हैं, तो दो आत्माओं में परिवर्तन आने लगता है और दोनों आत्माओं के बीच में प्रेम आ जाता है और दोनों को एक बना देता है।"

जब मनुष्य को यह अन्तिम और प्रेम का पूर्णतमरूप प्राप्त हो जाता है तो तब इच्छाएँ विलीन हो जाती हैं। रूप, सिद्धान्त तथा सम्प्रदाय बिसर जाते हैं और मुक्ति की इच्छा भी छूट जाती है। उच्चतम प्रेम वह प्रेम है, जिसमें नर-नारी की भावना नहीं रहती, क्योंकि स्वोंच्च प्रेम में यह पूर्ण एकता अभिव्यक्त होती है। लिंगत्व शरीरों को भिन्न करता है, इसलिगे मिलन केवल आत्मा में ही सम्भव है। भौतिक भावना जितनी कम होगी, प्रेम उतना ही पूर्ण होगा तथा अन्त में, सब भौतिक भावनाएँ बिसर जायेंगी और दो आत्माएँ एक हो जायेंगी। हम ग्रेम करते हैं—सदा प्रेम करते हैं। प्रेम जब आता है, तो रूपों को बेध कर उनके पार देखता है। यह कहा गया है, "प्रेमी हब्शिन की भौंहों में हेलेन की सुन्दरता देखता है" हब्शी एक आभास है और उस आभास पर मनुष्य अपना प्रेम आरोपित करता है। जिस प्रकार, एक सीपी अपने भीतर क्षोभक वस्तुओं को पाकर, उनको सुन्दर मोतियों में परिवर्तित कर देती है, उसी प्रकार मनुष्य अपना प्रेम आरोपित करता है और वह सदा अपने उच्चतम आदर्श से ही प्रेम करता है। उच्चतम आदर्श

सदा निःस्वार्थ होता है इसलिये मनुष्य प्रेम को प्रेम करता है। ईश्वर प्रेम है और हम ईश्वर से प्रेम करते हैं—अर्थात् प्रेम से प्रेम करते हैं। हम केवल प्रेम को देखते हैं। प्रेम का वर्णन नहीं किया जा सकता। मक्खन खाता हुआ गूँगा मनुष्य आपको यह नहीं बता सकता कि मक्खन कैसा है। मक्खन मक्खन है, और उसके गुण, उन लोगों को नहीं बताये जा सकते, जिन्होंने उसे कभी चखा न हो। प्रेम के लिए प्रेम का वर्णन उन लोंगों से नहीं किया जा सकता, जिन्होंने इसका अनुभव न किया हो।

एक त्रिकोण को प्रेम का प्रतीक माना जा सकता है। पहिला कोण है, प्रेम कभी कुछ माँगता नहीं, किसी वस्तु की याचना नहीं करता। दूसरा—प्रेम से भय नहीं होता। तीसरा कोण है—प्रेम के लिए ही प्रेम। प्रेम की शक्ति के द्वारा इन्द्रियाँ परिष्कृत और ऊर्ध्वमुखी हो जाती हैं। मानव-सम्बन्धों में पूर्णप्रेम बहुत ही दुर्लभ होता है, क्योंकि मानव-प्रेम लगभग सदा अन्योन्याश्रित और पारस्परिक होता है। परन्तु ईश्वर का प्रेम एक स्थायी धारा है, उसे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। जब मनुष्य ईश्वर को अपने उच्चतम आदर्श के रूप में, निःस्वार्थ भाव से प्रेम करता है, तो प्रेम भी अपने उच्चतम विकास पर पहुँच जाता है और यह विश्व में एक महान् शक्ति बन जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रेम की इस अवस्था पर पहुँचने में बहुत ही समय लगता है। परन्तु हमें आरम्भ वहाँ से करना चाहिए, जो हमारी प्रकृति के निकटतम हो। कुछ व्यक्ति सेवा करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं कुछ प्रेम में माता बनने के लिए। जो भी हो फल तो ईश्वर के आधीन है। हमें प्रकृति से लाभ उठाना चाहिए।

विश्व-धर्म-महासभा शिकागो अमेरिका में 11 सितम्बर 1893 में स्वामी विवेकानन्द जी का स्वागत भाषण

अमरीकावासी बहनो तथा भाइयो :

आपने जिस सौहार्द और स्नेह के साथ, हम लोगों का स्वागत किया, उसके प्रति आभार प्रकट करने के निमित्त खड़े होते समय, मेरा हृदय अवर्णनीय हर्ष से पूर्ण हो रहा है। मैं संसार में संन्यासियों की सबसे प्राचीन परम्परा की ओर से और धर्म की माता भारत की ओर से और सभी सम्प्रदायों एवं मतों के कोटि-२ हिन्दुओं की ओर से धन्यवाद देता हूँ।

मैं इस मंच पर बोलने वाले उन कतिपय वक्ताओं के प्रति भी अपना धन्यवाद प्रकट करता हूँ, जिन्होंने प्राची के प्रतिनिधियों का उल्लेख करते समय, आपको यह बतलाया कि सुदूर देशों के यह लोग सहिष्णुता का भाव, विविध देशों में प्रसारित करने का दावा रखते हैं। मैं एक ऐसे धर्म का अनुयायी होने में, गर्व का अनुभव करता हूँ, जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सार्वभौम स्वीकृति दोनों ही की शिक्षा दी। हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, बल्कि सभी धर्मों को सच्चा मानकर स्वीकार करते हैं। मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी के सभी धर्मों और देशों के उत्पीड़ितों और शरणार्थियों को आश्रय दिया है। मुझे आपको यह बतलाते हुए गर्व होता है कि हमने अपने वक्ष में यहूदियों के विशुद्धतम विशिष्ट अंग को उस समय आश्रय दिया, जिस समय उनका पवित्र मन्दिर रोमन जाति के अत्याचारों से धूल में मिला दिया गया था। मैं ऐसे धर्म का अनुयायी होने पर भी गर्व करता हूँ, जिसने महान् जरथुस्त्र जाति के अवशिष्ट अंश को शरण दी और जिसका पालन वह अब तक भी कर रहा है। भाइयो ! मैं आपको एक स्तोत्र की कुछ

पंक्तियाँ सुनाता हूँ जिसकी आवृत्ति मैं बचपन से करता आया हूँ और जिसकी आवृत्ति लाखों भारतीय किया करते हैं :

रुचीनां वैचित्र्यादृजु कुटिलनानापथजुषाम् ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

अर्थात् "जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न-२ स्रोतों से निकल कर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो ! भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जाने वाले लोग, अन्त में तुझ में ही आकर मिल जाते हैं।"

यह सभा, जो अभी तक आयोजित सर्वश्रेष्ठ पवित्र सम्मेलनों में से एक है, स्वतः ही गीता के उद्देश्य का प्रतिपादन करती है :—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वशः ॥

अर्थात्, "जो कोई भी मेरी ओर आता है—चाहे किसी भी प्रकार से हो—मैं उसको प्राप्त होता हूँ। लोग भिन्न-२ मार्गों द्वारा प्रयत्न करते हुए अन्त में मेरी ही ओर आते हैं।"

साम्प्रदायिकता, हठधर्मिता और धर्मान्धता, इस सुन्दर पृथ्वी पर बहुत समय तक राज्य कर चुकी हैं। वे पृथ्वी को हिंसा से भरती जा रही हैं, उसको बारम्बार मानव के रक्त से नहलाती जा रही हैं। वे सभ्यताओं को विध्वस्त करती और सभी देशों को निराशा के गर्त्त में डालती रही हैं। यदि वे वीभत्स दानवी न होती, तो मानवसमाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत होता। परन्तु अब उनका समय आ गया है। मैं आन्तरिक रूप से आशा करता हूँ कि आज सुबह इस सभा के सम्मान में, जो घण्टाध्वनि हुई है, वह समस्त धर्मान्धता का, तलवार या लेखनी के द्वारा होने वाले सभी उत्पीड़नों का तथा एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले मानवों की पारस्परिक कटुताओं का मृत्यु-निनाद सिद्ध हो।

मासिक सन्देश

परमसन्त सद्गुरु हज़ूर मानव दयाल

डा० ईश्वर चन्द्र शर्मा जी महाराज

मेरी अपनी ही आत्मा के अंश,

परमप्रिय सत्संगियो :

राधास्वामी, परम दयाल जी सहाई !

पिछले मासिक सन्देश में मैंने आपको 27 जनवरी 1991 तक की सूचना दी थी। 29 जनवरी को हम दोपहर को श्री त्रिलोक शर्मा के घर पर जालन्धर पहुँच गये थे, क्योंकि उसी रात को 12-30 की गाड़ी से हमें इटारसी के लिए रवाना होना था और वहाँ पर 31 जनवरी से सत्संग आरम्भ होना था। हम वहाँ ठीक समय से पहुँच गये और इस बार पहिले दिन श्री सुन्दर लाल जी के घर पर ठहरे। उनके यहाँ 31 जनवरी और 1 फरबरी को तीन सत्संग आयोजित हुए जिनमें इटारसी और आसपास से आये हुए सत्संगी काफी संख्या में सम्मिलित हुए। इटारसी के प्राय: सभी सत्संगी सिन्धी भाई हैं। इन सबकी श्रद्धा अगाध है। इसलिये सत्संगों में ये सब बहुत श्रद्धा और ध्यान से बैठते हैं। श्री सुन्दर लाल जी का सारा परिवार काफी अर्से से मानवता मन्दिर से सम्बन्धित हैं। इस बार उनके घर पर पहिले दिन ठहरने से सभी घर वाले बहुत प्रसन्न हुए और कृतकृत्य हुए। चरनजीत सिंह और उसका परिवार भी बहुत अर्से से परम दयाल जी और मानवता मन्दिर से सम्बन्धित है।

मेरा भी श्री चरनजीत सिंह के पिता श्री जोगेन्द्र सिंह और सारे परिवार से बहुत गहरा सम्बन्ध है। इसलिये उनको मेरा सुन्दर लाल जी के घर पर ठहरना अनुचित नहीं लगा, क्योंकि दूसरे दिन हम श्री चरनजीत सिंह जी के घर पर ही ठहरे और वहाँ दो फरवरी को सत्संग भी दिया। इटारसी से बाहर से आने वाले सत्संगियों में से, कटनी के श्री अर्जुन दास जी का नाम उल्लेखनीय है। मैंने पहिले भी आपको बताया है कि इनकी और इनके परिवार की श्रद्धा और आस्था बहुत गहरी है। इसीके फलस्वरूप, इनका सारा परिवार फलफूल रहा है और श्री अर्जुन दास जी हर वर्ष मानवता मन्दिर को काफी धनराशि अनुदान में दिया करते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि मानवता मन्दिर को जो भी व्यक्ति सच्चे दिल से अनुदान देता है, उसे हज़ारगुना लाभ भी अवश्य मिलता है।

इसी प्रकार कटनी का विष्णु मर्चेण्ट परिवार हर प्रकार से शरणागत और समर्पित है। श्री विष्णु मर्चेण्ट देहली में और होशियारपुर में आकर भी कई दिनों तक मेरे पास ठहरते हैं। इस बार विष्णु मर्चेण्ट अपनी पत्नी रानी और छोटी सुपुत्री के साथ मानवता मन्दिर में रहे। थोड़े ही दिनों में यह परिवार मानवता मन्दिर का अंग बन गया। बाहर से आकर मानवता मन्दिर में रहने वाले, सत्संगी यहाँ पर विशेष आनन्द और शान्ति का अनुभव करते हैं। मुझे विश्वास है कि अधिकतर मन्दिर में स्थायीरूप से रहने वाले सत्संगी भी नये वातावरण में आत्मिक लाभ उठा रहे हैं। मानवता मन्दिर में इस समय स्थायीरूप से रहने वाले सत्संगियों और कार्यकर्त्ताओं के अलावा श्रीमती राजकुमारी जो स्वर्गीय श्रद्धालु सत्संगी डी. एस. पी. ओंकार सिंह जी की पत्नी हैं, अपने खर्चे पर मन्दिर में आध्यात्मिक लाभ के

लिए रह रही हैं। यह एक बहुत अच्छी बात है कि बहुत से बाहर के सत्संगी कुछ दिनों के लिए मानवता मन्दिर में आकर शान्ति और आध्यात्मिकता के लिए आकर रहते हैं। इससे उनका भी कल्याण होता है और दूसरों को भी प्रेरणा मिलती है।

2 फरवरी को श्री चरनजीत सिंह जी के घर के अलावा उनके पड़ौस में भी धरम दास के घर में भी एक सत्संग आयोजित हुआ, जिसमें उस इलाके के बहुत से व्यास के सत्संगी भी शामिल हुए। धरम दास के परिवार की और दूसरे सत्संगियों की मेरे द्वारा दिये गये राधास्वामी धर्म से सम्बन्धित सत्संगों में श्रद्धा तथा आस्था बढ़ रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि परम दयाल जी के सत्संग और मेरे सत्संग किसी भी सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले लोगों की श्रद्धा को भंग नहीं करते, बल्कि उनके अपने गुरुसम्बन्धी विश्वास को और भी बढ़ावा देते हैं। राधास्वामी तत्त्व एक है। सद्गुरु एक है और वह अविनाशी और पूर्ण है। उसका कोई रूप नहीं है, फिर भी सभी रूप उसके हैं। जिस सद्गुरु से और जिस सत्संग से सच्चा ज्ञान, सच्ची भक्ति और सच्चा प्रेम मिल सके, उस सत्संग में जाना अनुचित नहीं है। एक सच्चा राधास्वामी मत का अनुयायी अपने मन में कभी भेदभाव नहीं रख सकता और एक सच्चा सद्गुरु भी किसी-की श्रद्धा को भंग नहीं कर सकता।

उसी दिन सायंकाल 6 बजे सुन्दर दास जी के घर पर सत्संग हुआ, जिसमें सत्संगियों की संख्या बहुत अधिक थी। तीनों दिन कटनी के अर्जुन दास हर जगह मेरे साथ रहे हैं। तीन फरवरी प्रातःकाल 4 बजे हम इटारसी से ट्रेन के द्वारा करीब 11 बजे रवाना होकर उसी दिन 1 बजे दोपहर उज्जैन पहुँच गये। उज्जैन स्टेशन पर श्रीमती रमाबाई

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

और उनका परिवार, श्री बन्सी लाल तथा उनका परिवार आचार्य सूर्य नारायण भट्ट, श्रीमती शान्ताबाई और उनका परिवार तथा अन्य बहुत से सत्संगी स्वागत के लिए मौजूद थे। हम सीधे रमाबाई के घर पर पहुँचे, जहाँ हमारा ठहरने का प्रबन्ध था। पहिले दिन तो हम अधिकतर घर पर रहे और सत्संगियों का आने-जाने का ताँता बँधा रहा। 4, 5 और 6 को विशाल सत्संग आयोजित हुए। इस बार सत्संग का स्थल महान् कालेश्वर मन्दिर के पास, एक विशाल धर्मशाला के बाहर, बड़े शामियाने में बनाया गया था। सभी सत्संग बहुत उत्तम और प्रभावशाली रहे। हर सत्संग के बाद धर्मशाला में हज़ारों सत्संगियों के लिए भण्डारा किया जाता था। उज्जैन में न केवल उज्जैन और इन्दौर के सत्संगी बल्कि तराना, इटावा और बड़ौत आदि के सत्संगी भी शामिल हुए।

आखिरी दिन हम बड़ौत गये वहाँ रात्रि का और दूसरे दिन का सत्संग देकर हम उज्जैन होते हुए रास्ते में कचनारिया में श्री ईश्वर दास के आश्रम में सत्संग देकर इन्दौर पहुँचे। इस सारी यात्रा में मेरा प्यारा महेन्द्र गर्ग अपनी कार में हमें सब जगह ले गया। इन्दौर में भोजन करने के बाद रात को साढ़े दस बगे हम सब मैटाडोर से खंडवा के लिए रवाना हुए और करीब 3 बजे प्रातः शान्ता-बाई के घर पर पहुँचे। खंडवा तक हमारे साथ रमाबाई, उनकी बहिन और महेन्द्र गर्ग साथ में थे। उज्जैन और इन्दौर के सत्संगियों का और प्रबन्धकों का प्रेम और उत्साह प्रशंसनीय है। जब मैं उज्जैन के सत्संगियों का ज़िक्र करता हूँ, तो उसमें तराना, इटावा और बड़ौत के सत्संगी भी आ जाते हैं। इस बार बड़ौत के छोटे से गाँव में हमारे ठहरने का और भोजन का बहुत ही अच्छा प्रबन्ध था। हमें किसी

प्रकार की तकलीफ़ नहीं हुई। बड़ौत के राम चन्द्र ने करीब एक एकड़ ज़मीन मानवता मन्दिर के निर्माण के लिए दे रखी है। कभी न कभी इस स्थान पर मानवता मन्दिर और शिशु शिक्षा केन्द्र भी बन जायेगा। तराना और इटावा के सत्संगियों में से, तराना के श्री सेवा राम जी के सुपुत्र राधेश्याम और बलराम तथा इटावा के श्री गणपति उनके भाई जगदीश के नाम उल्लेखनीय हैं। मैं श्री सेवा राम जी की धर्मपत्नी को तराना माता कहता हूँ और उनके भाई श्री गणपति को जगत् मामा कहा करता हूँ। तराना के सत्संगी पूरी तरह से शरणागत हैं। बलराम तो हमारे साथ खंडवा तक भी गया। मेरे विचार में आप सब जानते हैं कि वैसाखी के अवसर पर तराना और इटावा के 10-12 सत्संगी अपने खर्चे पर मानवता मन्दिर आया करते हैं और भोजन की व्यवस्था करते हैं। उज्जैन में भी श्री श्याम लाल और रमाबाई के सुपुत्र श्री अखिलेश, रमाबाई के भाई श्री वंसी लाल और उनके भानजे श्री अशोक हर प्रकार के प्रबन्ध में दिन-रात जुटे रहे हैं। श्री महेन्द्र गर्ग का तो कहना ही क्या है? यह भी श्रीमती रमाबाई के भाई हैं और इन्दौर के जाने-माने उद्योगपति हैं। श्री महेन्द्र लगातार मध्य प्रदेश के दौरे पर मेरे साथ रहते हैं और मेरे आने पर मोटर आदि के प्रबन्ध के अलावा हज़ारों रुपये खर्च करते हैं। महेन्द्र भी मेरा बहुत ही प्यारा आध्यात्मिक पुत्र है। वह वास्तव में एक आदर्श मानव है और प्रेम से ओत-प्रोत है। मैं सच्चे दिल से आशीर्वाद देता हूँ कि महेन्द्र उत्तरोत्तर उन्नति करे और आध्यात्मिकता में भी मंज़िले मकसूद पर पहुँच जाये। जब भी मैं मध्य प्रदेश के इन सत्संगियों से विदा होता हूँ, तो इनके मन भर आते हैं और मेरे मन में भी इनके प्रति सच्ची सहानुभूति और प्रेम का

समुद्र लहरें मारने लगता है। इस बार भी बिदाई के समय खंडवा के स्टेशन पर यही दृश्य था। ऐसे अवसर पर तुलसी दास जी की नीचे दी गई चौपाई याद आती है :—

वन्दौं सन्त असज्जन चरणा, दुःखप्रद उभय भेद कछु वरणा।
बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं, मिलत एक दारुण दुख देही॥

अर्थात् तुलसी दास जी कहते हैं कि मैं सज्जनों और दुर्जनों दोनों को इसलिये नमस्कार करता हूँ क्योंकि दोनों के सम्पर्क से हमें दुःख मिलता है यानि कि दोनों दुःखदायी हैं। लेकिन उनके द्वारा जो दुःख प्राप्त होता है, उसमें भेद इतना है कि जब हम सन्त या सज्जन से बिदा होते हैं, तो वह मानो हमारे प्राण को हर लेते हैं और हम बेजान हो जाते हैं और दुर्जन के मिलते ही हमें अत्यन्त दुःख का अनुभव होता है। इस चौपाई के पीछे एक सत्य छुपा हुआ है और वह यह है कि हरएक जीव ब्रह्म की तरह पूर्ण है मुकम्मल हैं और उसमें कोई नुक्स नहीं है। क्योंकि जीव ब्रह्म की तरह शरीर, मन, आत्मा से परे असल में एक तत्त्व है और पूर्ण है। जैसे समुद्र अपने आप में पूर्ण है और एक है। समुद्र में लहरें उठती हैं, हीरे, मोती शंख पैदा हो जाते हैं. एक समुद्र अनेक रूपों में दिखाई देने लगता है।

जब हलारी दृष्टि समुद्र के रूपों पर, लहरों पर, शंख-मोतियों पर होती है, तो हम समुद्र को उसके हिस्सों को अलग-२ एवं अनेक मानते हैं। वास्तव में, समुद्र की बूंदें, लहरें आदि आंशिक रूप में समुद्र ही हैं। यदि हमारी दृष्टि समुद्र की पूर्णता पर रहती है, तो हम उन सबको एक मानते हैं। समुद्र एक भी है, अनेक भी है। भेद हमारी दृष्टि में है, हमारे मानने का है। सोने के अनेक प्रकार के गहने ननते हैं। अँगूठियाँ, कंगन, वालियाँ, हार आदि अलग-२ हैं, किन्तु हैं तो सभी सोना ही। इसी व्यापक दृष्टि को ही समदृष्टि

कहते हैं। सद्गुरु के सत्संग से अनेक के पीछे एक का अनुभव होने लगता है। इसीको जीवन्मुक्ति की हालत कहा जाता है।

इसी एकत्व की दृष्टि को अपनाने वाला ही, सन्त और दुष्ट व्यक्ति को समान दृष्टि से देखता है। तुलसी दास जी ने इसी दृष्टि को अपनाकर ही कहा है कि वह सन्त और दुष्ट दोनों को नमस्कार करते हैं। उन्होंने अपनी समदृष्टि को नीचे दी गई चौपाई में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है :—

सिया राममय सब जग जाणी,
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पाणी।

जिस प्रकार तुलसी दास जी ने अपने इष्ट को सारे जगत् में मौजूद पाया है, उसी प्रकार साधक, जो अपने सद्गुरु को सच्चा प्यार करता है, उसकी झलक हरएक व्यक्ति में देखता है। प्रेम की यह खूबी है कि प्रेमी अपने प्रीतम को कभी नहीं भूलता और उसका सुमिरन करते-२ प्रीतम की तरह व्यापक हो जाता है, क्योंकि ईश्वर हर जगह मौजूद है और हम ईश्वर से प्रेम करते हैं। इसलिये किसी भी व्यक्ति से हम नफ़रत नहीं कर सकते। वास्तव में, हमारा प्रेम, पनपता भी इसलिये है कि हम अपने में मौजूद ईश्वर को एवं आत्मा को दूसरे में भी मौजूद महसूस करते हैं। इसी कारण खंडवा के स्टेशन पर सभी सत्संगी प्रेम से ओत-प्रोत हो गये। हम इस प्रकार मध्य प्रदेश का दौरा समाप्त करके इलाहाबाद 10 फरवरी को ही पहुँच गये। लखनऊ के आचार्य श्री कृष्ण मोहन तिवारी भी मिश्रिक के आचार्य श्री श्रीवास्तव साहिब के साथ श्री सुमित्रा कुमार जी के मकान पर उसी दिन पहुँच गये थे।

उसी दिन रात्रि को श्री सुमित्रा कुमार जी के यहाँ सत्संग हुआ, जिसमें काफी लोग सम्मिलित हुए। बम्बई से आचार्या निर्मला पंडित के दो सुपुत्र और मेरा परम प्यारा

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY PURNADAYAL

रसूल आज़ाद भी उसी रात को बम्बई से पहुँच गये थे और 10 बजे मुझे मिलने के लिए आये। दीपक के ससुर श्री अजय मिश्रा उत्तर प्रदेश के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश (हाई कोर्ट जज) हैं इसलिये दीपक, रसूल और रवि रात को उन्हीं के यहाँ ठहरे, किन्तु दूसरे दिन प्रातःकाल ही दीपक ने टेलीफोन किया कि जज साहिब की प्रबल इच्छा थी कि मैं उनके घर में चरण डालूं, इसलिये वह हमें लेने के लिए श्री सुमित्रा कुमार के घर आये और हम दो कारों में श्री तिवारी जी के सहित मिश्रा जी के घर पर पहुँचे। मुझे यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई कि मिश्रा जी की आध्यात्मिक प्रवृत्ति बहुत प्रबल है और वह तथा उनके बड़े भाई अध्यात्म में और धर्म में भारी जिज्ञासा रखते हैं। क़रीब दो घण्टे तक सन्तमत की चर्चा रही और एक प्रकार का सत्संग हो गया। हम करीब 10 बजे घर पहुँचे। 11 बजे हम सब त्रिवेणी के लिए रवाना हो गये और एक मोटर वोट के द्वारा संगम पर पहुँचे। सभी लोगों ने दूध से मेरे पाँव धोये और फूल आदि चढ़ाये। मैंने भी त्रिवेणी में गंगा, यमुना और सरस्वती के जल का आचमन किया।

वास्तव में, गंगा, यमुना और सरस्वती हरएक मनुष्य के अन्दर पिंगला, इड़ा और सुषुम्णा नाड़ियों के रूप में मौजूद हैं। जिस प्रकार, गंगा निर्मल है, उसी प्रकार पिंगला नाड़ी के अन्दर जो विचार की धारा बहती है वह अच्छे विचारों की है। यमुना एवं इड़ा नाड़ी में बुरे विचारों की धारा का प्रवाह होता है, जबकि सुषुम्णा नाड़ी जो सरस्वती का प्रतीक है, हमारी संकल्प की शक्ति है, जिसके द्वारा हम अच्छे या बुरे विचारों को, अच्छे-बुरे कर्मों में बदल देते हैं। यही कर्म हमें उस समय बन्धन में डालते हैं, जब हम उन्हें अपने निजी स्वार्थ के लिए करते हैं। यदि कर्म करते समय

हमारा संकल्प शुद्ध हो और हम कर्म के लिए ईश्वरप्राप्ति के लिए कर्म करें, तो हम कर्म-बन्धन से मुक्त हो सकते हैं। सभी कर्मों से आज़ाद होकर अपने निजस्वरूप को एवं पूर्णता को पाने का सबसे आसान उपाय यही है कि हम अपने संकल्प को स्वतन्त्रता अर्थात् सरस्वती एवं सुषुम्णा नाड़ी में बहने वाली धारा को पराभक्ति और पराप्रेम, अपनाकर, सद्गुरु या इष्ट की ओर ऐसी लगन से लगा दें कि हमारा संकल्प हमारा न रहे उसे अपने इष्ट को समर्पित कर दिया जाये, तो हमें जीते-जी जीवन्मुक्ति की वह हालत मिल सकती है, जिसमें मालिक की मौज ही हमारे सभी काम करती है और हमारे लोक और परलोक दोनों को सँवारती है। गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम हर समय हमें यह याद दिलाता है कि हम इस जगत् में प्रेम का मार्ग अपनाकर अपने सभी कर्मों से मुक्त होकर और धारा से राधा बनकर स्वामी में विलीन हो जायें। इसी संगम के किनारे भगवान् राम ब्रह्मस्वरूप महर्षि बाल्मीकि जी से मिले थे। जब उन्होंने ब्रह्मर्षि जी से यह पूछा कि वह वनों में जाकर कहाँ रहें, उस समय ब्रह्मस्वरूप महर्षि बाल्मीकि जी ने जो उत्तर दिया था, वह हमें यह बताता है कि परमतत्त्व का असली घर हमारा निर्मल हृदय है। बाल्मीकि जी ने कहा—

पूँछेऊ मोहि कि रहऊँ कहाँ, मैं पूछत सकुचात।
जहाँ न होऊ तहाँ देहु कहि, तुमहिं दिखावऊँ ठाऊँ॥

सुनहु राम अब कहऊँ निकेता, जहाँ बसहु सियलषण समेता।
जिनके श्रवण समुद्र समाना, कथा तुम्हारि सुभग सरि जाना।
निदरहिं सिन्धु सरित सर वारी, रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी।
तिनके हृदय सदन सुखदायक, बसहु बन्धुसिय सह रघुनायक।
चरण राम तीरथ चलि जाहीं, राम बसहु तिनके मन माहीं।

मन्त्रराज नित जपहिं तुम्हारा, पूजहिं तुमहिं सहित परिवारा।
काम क्रोध मद मान न मोहा, लोभ न क्षोभ न राग न द्रोहा।
जिनके कपट दंभ नहिं माया, तिनके हृदय बसहु रघुराया।
तुमहीं छाँड़ गति दूसरि नाहीं, राम बसहु तिनके मन माहीं।
जननी सम जानहिं परनारी, धन पराय विष ते विष भारी।
गुण तुम्हार समुझहिं निज दोसा, जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा।
रामभक्त प्रिय लागहिं जेही, तेहि उर बसहु सहित वैदेही।

इन चौपाइयों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा प्रीतम हमारे मन में मौजूद है, बशर्ते हमारा मन शुद्ध हो, प्रेममय हो और परोपकार में लगा हुआ हो। इस प्रकार 11 फरवरी को हम संगम से वापिस आकर थोड़ी देर के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र विभाग में गये। जब हम घर पर पहुँचे तो इलाहाबाद के बहुत से सत्संगी मिलने के लिए आये हुए थे। उस रात को भी एक सत्संग हुआ और लोग काफी समय तक परामर्श के लिए बैठे रहे। दूसरे दिन हम राधास्वामी धाम पहुँच गये और 12, 13 फरवरी को धाम पर दो सत्संग हुए। दोनों सत्संगों में इलाहाबाद, लखनऊ, बनारस और बम्बई से आये हुए सभी सत्संगी सम्मिलित हुए। हमारा यह दो दिन का प्रोग्राम बहुत ही आनन्ददायक रहा। राधास्वामी धाम की मैनेजिंग कमेटी की बैठक में यह तय हुआ कि धाम पर एक अतिथि-गृह का तुरन्त निर्माण किया जाये। पिछले वर्ष के अनुदान में से काफी रुपया ट्रस्ट के पास मौजूद था। 8000 के करीब उसी समय इकट्ठा हो गया। हमने वचन दिया कि बाकी धनराशि राधास्वामी धाम को बम्बई और होशियारपुर से भेज दी जायेगी। यह सब प्रबन्ध अब पूरा कर दिया गया है। अगले वर्ष तक राधास्वामी धाम पर भवन निर्माण हो जायेगा।

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

याद रहे कि पिछले वर्ष हमने यह निश्चय किया था कि एक न एक दिन राधास्वामी धाम विश्व का आध्यात्मिक केन्द्र बनेगा। परम दयाल जी महाराज ने कहा था कि यदि धाम पर उनकी इच्छा के अनुसार कोई आचार्य स्थायीरूप से रहे, तो वह धाम को पनपने के लिए हर प्रकार की सहायता करेंगे। उन्होंने यह बात अपनी वसीयत में लिख दी थी। इसलिये मैं उनकी आज्ञा का पालन कर रहा हूँ। यह बहुत ही प्रसन्नता की बात है कि बहुत जल्दी ख़ासकर अतिथिभवन निर्माण के बाद स्थायीरूप से एक अच्छे आचार्य वहाँ पर रहने लगेंगे और सत्संग आदि दिया करेंगे।

राधास्वामी धाम के सत्संग बहुत प्रभावशाली थे। श्री तिवारी और श्री श्रीवास्तव जी ने भी बहुत प्रेरणा-दायक सत्संग दिये। हम 13 फरवरी को ही खानपुर से होते हुए रात के 10 बजे तक श्री कृष्ण मोहन तिवारी जी के घर पर लखनऊ में पहुँच गये। उस समय भी, पचासों सत्संगी हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन सबको थोड़ा समय देने के बाद हमने विश्राम किया। 14 फरवरी को तिवारी जी के निवासस्थान पर उनकी ऊपर वाली मंज़िल पर शामियाने से सत्संग स्थल सजाया गया था। सत्संगियों की संख्या बहुत अधिक थी और सारा स्थल भर गया था। इस सत्संग में शामिल होने के लिए लोग कन्नौज, कानपुर और उन्नाव आदि से भी आये हुए थे। लखनऊ के सत्संगी तो बहुत अधिक संख्या में थे। उनका उत्साह इसलिये भी अधिक था, क्योंकि पिछली बार मैं लखनऊ सत्संग नहीं दे सका था। लखनऊ में मेरा जाना प्राय: इसलिये भी हो जाता है कि यहाँ पर 'रामतीर्थ प्रतिष्ठान मारवाड़ी गली लखनऊ' द्वारा हर वर्ष अक्टूबर के महीने में स्वामी राम-तीर्थ की जन्मतिथि मनाई जाती है और उसमें भारतवर्ष के

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

जाने-माने साधु, संन्यासी और आचार्य प्रवचन देने के लिए सम्मिलित हुआ करते हैं। पिछले वर्ष में मैं देशभर में गड़बड़ होने के कारण इस उत्सव पर नहीं जा सका था।

मैं स्वामी रामतीर्थ जी के इस उत्सव पर इसलिये जाता हूँ, क्योंकि हमारे वर्तमान काल में स्वामी रामतीर्थ जैसे परमभक्त और परमसन्त नहीं हुए, जिन्होंने वेदान्त को अपने जीवन में उतारा हो। स्वामी राम उस पराभक्ति का जीवित नमूना थे जो राधास्वामी मत या सन्तमत का आदर्श माना जाता है। पराभक्ति का उद्देश्य पूर्णरूप से, शरणागत अवस्था प्राप्त करना है। स्वामी राम बाल्यकाल से ही मालिक की खोज में लगे हुए थे। उनके घर की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। जब उन्होंने हाई स्कूल की परीक्षा पास कर ली और महाविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने का इरादा किया, तो उनके पिता श्री ने उन्हें ऐसा करने से रोका और आग्रह किया कि वह नौकरी करके पैसा कमायें और घर की आर्थिक स्थिति को सुधारें, किन्तु स्वामी राम ने अपने इरादे को न बदला और उस समय के सर्वश्रेष्ठ महाविद्यालय एफ० सी० कालिज लाहौर में प्रवेश ले लिया। यहाँ पर उन्होंने पढ़ते समय ट्यूशनें भी पढ़ाईं और अपनी पढ़ाई का खर्च खुद किया। उनसे बहुत अमीर घराने के छात्र उन्हें ट्यूशन देकर पढ़ा करते थे। स्वामी राम एक कमरे वाले किराये के मकान में रहते थे। उनका अमीर घराने का एक शिष्य उनके निवासस्थान को देखना चाहता था। स्वामी राम हर बार उसे टाल देते थे। एक बार जब उस शिष्य ने बहुत आग्रह किया, तो वह उसे लेकर अपने कमरे पर पहुँचे। उन्होंने ताला खोला और दरवाज़े को खटखटाया। शिष्य ने पूछा, "आप दरवाज़ा क्यों खटखटा रहे हैं?" स्वामी राम ने कहा, "मेरे साथ दो और साथी

रहते हैं, जिन्हें तुम देखकर डर जाओगे। इसलिये मैं उन्हें इशारा दे रहा हूँ कि वह तुम्हारे सामने न आयें।" वास्तव में, उनके कमरे में दो काले साँप रहते थे। जब स्वामी राम रात को लैम्प जलाकर पढ़ा करते थे, तो यह दोनों सर्प उनके पास बैठे रहते थे और सोते समय उनकी रक्षा करते थे। स्वामी राम का जीवन साबित करता है कि जो व्यक्ति ईश्वर से अगाध प्रेम करता है, उसके प्रेम का प्रभाव पशु-पक्षियों और सभी प्राणियों पर पड़ता है।

समय और स्थान की कमी के कारण मैं स्वामी रामतीर्थ के जीवन के बारे में विस्तारपूर्वक नहीं लिख सकता। यहाँ पर मैं इतना कहूंगा कि वह गणितशास्त्र में एम. ए. की परीक्षा में पंजाब विश्वविद्यालय में शतप्रतिशत अंक लेकर पास हुए और एफ. सी. कालेज लाहौर में ही गणितशास्त्र के प्रोफेसर हो गये। उन्होंने आधुनिक गणित के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित भी किया। उनको पढ़ाते समय बहुत चमत्कारी अनुभव हुए। उन्होंने चमत्कारों की ओर ध्यान तो नहीं दिया, लेकिन उनके मन में आया कि चमत्कार उनको ईश्वर की तरफ से बुलावा दे रहे थे कि वह संन्यास धारण करके सत्य की खोज में निकल जायें। उन्होंने ऐसा ही किया। कहते हैं कि जब वह ऋषिकेश से कुछ आगे गंगा के किनारे ईश्वर की खोज में गये, तो उनके साथ करीब 30 और व्यक्ति थे। जब वह एक स्थान पर चट्टान पर बैठे, तो उन्होंने अपने साथियों द्वारा खर्च के लिए लाये गये रुपयों को गंगा में बहा दिया। उनके सभी साथी आश्चर्यचकित रह गये। स्वामी राम ने उनसे कहा, "अब तुम्हारा कोई दुनियावी सहारा नहीं रहा। तुम्हें पूरी तरह से ईश्वर पर निर्भर हो जाना चाहिए। तुम्हारी इस शरणागति की हालत में ही तुम्हारी सभी ज़रूरतें पूरी हो जायेंगी।" थोड़ी देर में

एक व्यक्ति जो पहाड़ों में ऋषिकेश जा रहा था और रास्ता भूल गया था, वहीं आ पहुँचा। उसने स्वामी राम के साथियों से पूछा, "क्या आप मुझे ऋषिकेश का रास्ता बता सकते हैं? जब यह बातचीत हो रही थी, तो स्वामी राम दूर बैठे हुए थे। इन लोगों में से स्वामी जी के मुख्य शिष्य पूर्ण सिंह ने उस व्यक्ति को कहा, "श्रीमान् जी! हम सब लाहौर से स्वामी रामतीर्थ के साथ आये हुए हैं, क्योंकि उन्होंने संन्यास ले लिया है और हम सब उनकी शरण में रहना चाहते हैं। गज़ब की बात यह है कि हम सब लोग कुछ हज़ार रुपये खर्च के लिए लाये थे, स्वामी जी महाराज ने वह सब रुपये गंगा में बहा दिये। ऋषिकेश का रास्ता तो सामने है। परन्तु हम भूख से तड़प रहे हैं।" उस व्यक्ति ने उत्तर दिया, "यह मालिक की मौज है। मैं काली कम्बली वाले बाबा के ट्रस्ट का मन्त्री हूँ और मेरा काम पहाड़ों में रहने वाले साधु-सन्तों को भोजन पहुँचाना है। मुझे इस सेवा का मौका दीजिये।" पूर्ण सिंह उस व्यक्ति को स्वामी जी के पास ले गया और स्वामी जी ने सब बात सुनकर कहा, "पूर्ण सिंह! यह तुम्हारे विश्वास का फल है। इस व्यक्ति को सेवा का मौका देना ही चाहिए।" मैंने यह वार्ता आपको उसी शरणागति की हालत एवं राधास्वामी हालत को समझाने के लिए लिखी है। इस मासिक सन्देश को मैं यहीं समाप्त करता हूँ। मैं सच्चे दिल से आपको आशीर्वाद देता हूँ कि आप मानव धर्म के सत्य और प्रेम के असूलों को अपने जीवन में उतारते हुए सफलता प्राप्त करें और आपके लोक और परलोक दोनों बन जायें।

सबको राधास्वामी!

आपका फकीरमय
मानव

महत्त्वपूर्ण सूचना

परमसन्त सद्गुरु हिज होलीनेस हजूर मानव दयाल

डा० ईश्वर चन्द्र शर्मा जी महाराज

— का —

जुलाई 1991 का दौरा प्रोग्राम

16 जुलाई 1991	प्रातः अमीन प्रस्थान।
17 जुलाई 1991	प्रातः सत्संग।
18 जुलाई 1991	यमुना नगर प्रस्थान।
19 जुलाई 1991	सत्संग स्थान, श्री रमेश चन्द्र गोयल शास्त्री कालोनी 115 यमुना नगर।
20 जुलाई 1991	रामगढ़ प्रस्थान।
21 जुलाई 1991	सत्संग रामगढ़।

दाता दयाल जी के महावाक्य

जनवरी 1

धन्य हैं ऐसे रहमदिल तथा पवित्र स्वभाव वाले मनुष्य, जो दूसरों की भलाई के लिए अपने सिर पर मुसीबतों का पहाड़ उठा लेते हैं।

जनवरी 2

जो व्यक्ति साधु होकर निःस्वार्थ प्रेम के विचार से ईश्वर तक के ध्यान को जवाब दे सकता है, वह साधारण व्यक्ति नहीं।

जनवरी 3

परमात्मा पर ध्यान लगाने वाला यदि परमात्मा की सूरत में बदल जाता है, तो पशु और पशुता से प्यार करने वाला पशु बन जाता है। हम जिसका ध्यान करते हैं, उसी ही की शक्ल ग्रहण कर लेते हैं।

जनवरी 4

यह बिलकुल सत्य है कि जो डरायेगा, वही व्यक्ति डराया भी जायेगा।

जनवरी 5

काम करना हमारे वश में है और काम में सफल होना सर्वोच्च शक्ति से सम्बन्धित है। इसलिये ही ऋषियों, मुनियों और महात्माओं ने हिदायत की है कि इन्सान काम करे और उसका फल ब्रह्म के अर्पण करता चले। समय पर जो होने को है वह होकर ही रहेगा।

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

जनवरी 6

तपस्वियों के दिल में उसी प्रकार सूक्ष्मता आ जाती है, जिस तरह गर्मी पाने से बर्फ पिघलती है।

जनवरी 7

कर्म "बचपन" है। उपासना "जवानी" है। ज्ञान "अधेड़पन" है। सत्तपद में स्थिर होकर सन्तुष्ट हो रहना बुढ़ापा है। ये चार अवस्थाएँ हैं जिनके काल्पनिक रूप हर बुद्धिमान् व्यक्ति की मानसिक दृष्टि के समक्ष रहते हैं।

जनवरी 8

बदहाली और खुशहाली, मौत तथा ज़िन्दगी, धनी तथा निर्धन, स्वास्थ्य तथा बीमारी—ये सब हमारे दिल के अच्छे तथा बुरे भावों के तमाशे हैं।

जनवरी 9

ध्यान दो, सोचो, समझो। न तो तुम धातुओं का जीवन व्यतीत करो, न पौधों का और न ही पशुओं का। इन्सानी ज़िन्दगी के महत्त्व को समझो। इससे लाभ उठाओ। यह हाथ से न जाने पाए इसका एक-एक साँस बहुत ही कीमती है।

जनवरी 10

पुरस्कार का लालच और दण्ड का डर अज्ञानी के लिए ही है। मन के धनी की दृष्टि धन की ओर नहीं जाती।

Manav Mandir

ENGLISH SECTION

A Paper devoted to the Social, Cultural and Spiritual Welfare and Uplift of Mankind all over the World.

BE MAN

June 10th, 1991

MANAVTA MANDIR

Hoshiarpur (Pb.) India

LIGHT ON ANAND YOGA

by

Data Dayal Maharshi
Shiv Brat Lal Ji Maharaj

M.A., LL.D.

Centre of Happiness (*Contd.*)

Q. Where is the centre of Happiness ? Within ?

A. It is inside your body. It is at a place where wakefulnes and dream meet. Concentrate your Mind on it, with as much amount of "attention" as you could command, and you will see the result gradually.

There are various kinds of pleasures e.g., material, sensual, mental, intellectual, spiritual etc. etc.

Material pleasure is confined to those tiny creatures in Nature that grope in the dark bowels of Matter.

Sensual pleasure is meant for those creatures that are of gross senses.

Mental pleasure is for mentally gifted beings ; and Intellectual pleasure is enjoyed by intellectual men.

We need not pay attention to Material pleasure ascribed to those creatures that are more attached to Matter. Practically we know nothing about them. We infer that they are happy, from their actions. The dog, for instance, chews the dry bone with more relish than a human being. He finds in it such pleasure as is denied to man even if his master were to tease him when he is chewing the dry bone. He will feel intensely angry, he will grumble and snarl and will fly at him, and might even bite him for his appetite is centred only upon that dry bone. He is happy with that dry piece and wants nobody to interfere. Man is ignorant of this sort of appetite. He is different from that dog, essentially a sensual creature having regard merely for sensuality. He is Mental, and as such, has made more physical advancements than the brute. He finds pleasure in his food but not like them. He enjoys sensual pleasures but does not become a brute.

Now consider the Mental. He is material, sensual and mental all. But this enjoyment is more mental than sensual or material. His pleasures are centred in Mentality. A learned man, when engaged in reading his book, forgets his food and bodily comforts, and is more attracted towards that which we here call "centre of Mentality." His pleasure is of a different sort, differing iu degree, quality, and quantity, from brutal and sensual creatures. More

advanced is the intellectual man whose mind is concentred on the "centre of Intellectuality". His pleasures are even different from those of the sensual and the mental man. Sensual man seeks gratification in sensual and the mental man. Sensual man seeks gratification in Senses, mental man in Metality, and intellectual man in Intellectuality.

In the same way there is a Spirtual man who finds pleasures in Spirituality and his mind is centred on Spirit. His Happiness or Pleasure is confined to it only.

They who think that the tongue is the tasting entity in our physical frame are in the wrong. It is not truly that. The tongue may be called a vehicle, an instrument, or an organ of taste. which, it is in reality. It has not the tasting faculty. You taste with the tongue, but the tasting-faculty, is quite different from it as the worker is different from the tools that he holds in his hand. The tongue displays its tasting faculties during the condition of wakefulness, but when the man is asleep, the same tongue fails to perform its function, for, the Life-giving Current which was centred on the tongue has been withdrawn therefrom and is now somewhere else. The same thing happens when a man is unconscious or suffers from apoplexy. During such states the tongue becomes senseless and seems deprived of its power. When a man suffers from fever, though the

tongue is not deprived of its taste-faculty, the taste becomes something else. A thing brackish appears sour, and sweet appear bitter. The reason is : the Life giving Current which was there, is now partially withdran inside.

The same may be said of the organ of hearing, organ of smelling and every other organ or limb of the body. They are in living condition so long as the wakeful state lasts. But when one goes to sleep, all these depart from their external seats of activities, and the powers are withdrawn internally. It follows therefrom, that the body itself is not the real agent but only an instrument of the agent living somewhere in its very interior.

The condition of wakefulness is the state of activity of the physical body, when all the organs, all the limbs, all the nerves, all the currents etc., are alert and free from interia. But when the Life-giving Current which was immanent in the physical plane, has retired, the physical body, becomes completely inert and in-active.

Q. What becomes then ?

A. The Mind-principle becomes more active. The Mind has taken all its instruments with itself and retired to the dreamland, its headquaters, just as the commandant of an army retires with his troops when he withdraws from the field of battle. He encamps somewhere and is engaged in amusements.

Mind, seated on Mental-centre, is in a playful condition during the time of dream. It is a dreamer there. Its power is in full play and it creates all that it wants : creates parents, relations, land, oceans, deserts and mountains, etc. whatever it takes a fancy to. Though the external senses are absent, yet it is so powerful in its realm that it produces them anew, and goes on with the same sort of enjoyments as there were in she world of wakefulness.

An ordinary man may infer from this that Mind itself is the centre of Bliss and enjoyment, and that Mind itself is the enjoyer of Bliss. No, it will be another mistake. Mind, in reality, is only different from the external organs of senses in so far as it is subtle while the latter are gross. Otherwise, it is as much an organ of Mentality as the so-many senses are organs of sensuality. They are external while it is internal, it is as much indebted for its life to the still more internal Currents as the external organs are themselves indebted to it.

When that innermost Current is withdrawn the Mind too, becomes inert in its turn. There is no Life in it.

5. This takes place, when after enjoying the excursions of external and internal worlds, the "real person" retires to his own place. This condition is called the condition of sound-sleep where the physical

senses and the mental senses ceases to exist ; but the "Master" is still there and he is enjoying the bliss within. That is the "real entity" and at the same time 'Happiness and centre of Happieess" both. He is enjoying, himself being the enjoyer, enjoyment, and the enjoyed, all combined in one. This is Unity in Diversity. During this state, the Diversity has been "absorbed" into Unity, and the Centre of Unity is the enjoyer himself.

PEACE

by

Param Sant Param Dayal Pt. Faqir Chand Ji Maharaj

Attention of the whole world is engaged in the establishment of peace. All the great and small nations of the world want peace. Most of the people all over the world want to work on democratic principles for the establishment of peace. But the question is 'why is there no peace in the world in spite of many efforts to establish peace ?' Is there any certain rule or measure by which peace can be established ? First of all we must know what is peace ?

Peace is the name of cheerful and smooth form of existence. When so many conflicting ideas rise in the mind of a person, he does not like them. He tries to stop those ideas from rising. Sometimes when he succeeds in stopping those negative ideas, he feels pleasure, but when in spite of all his efforts he fails to stop them, he feels frustrated and is pained. After experiencing this duality of pleasure and pain he wants tranquality or peace of mind.

The emotions and passions in the mind give birth to envy, malice and hatred against one another. When a person sees other people happy and prosperous, he feels jealous of them. As long as he does not become wealthy and prosperous, he loses his peace of mind. I think that religion is not the root cause of hatred and discord among different sects, denominations and faiths, as the desire for wealth, dignity, rank, position, the means of livelihood, and a life of affluence.

The misfortune of the average man compels him to adopt the path of dishonesty to earn his livlihood. If the people do not get food to eat and clothes to cover their naked bodies, how can they be peaceful. Now the question arises, 'what is the ideal of prosperity ?' Suppose a man earns ten rupees per day, but complains that this much money is not enough to live a comfortable life, but on the other hand, there is another man, who earns only one rupee a day, but he feels contented and is happy, he will certainly be complaining "What right the fellow who earns ten rupees a day, has to spend ten rupees everyday ?" Now you can imagine who of the two fellows is prosperous.

If any country desires peace, its possibility is only through the agency of some religion. Indeed, with the help of religion only, peace can be established. Now the question arises which that religion

can be ?

Before answering this question, we have to find out "What really is the meaning of religion ? How does it originate and how can we achieve it ?

Religion is in reality a practical method to live peacefully. If religion—a true religion is adopted by every person, without any distinction of caste and creed, every one can live in peace and get pleasure and cheerfulness from this world of duality. Religion aims at removing the sufferings of the humanity and man's welfare is the final goal of religion. Human beings suffer from three kinds of affliction, which are physical pain, mental agony and ignorance about soul. A true religion is one, which prescribes a remedy for all these three ills. For the physical and mental afflictions, most of the religions recommend some religious rituals or ceremonies. But for the treatment of spiritual affliction or removing the ignorance, 'Divine Wisdom' or 'knowledge of being', or cognition of the Creator or Lord of all and above all is needed.

If you study the books about all religions minutely, you will arrive at the conclusion that the beginning of every religion is based on the following three queries :—

(i) How is the world or universe created ?

(ii) What is the object of the creation ? Who is its Creator and where is He ?

(iii) What is that working principle, following which man can live in happiness, peace and tranquility ?

As regards, the first query, how the world is created, every religion admits that the origin of the world is from Noor, Prakash or Light. The religion of saints has made a thorough research in this field, and acknowledged that alongwith God's Light the existence of Sound is also there within us ; which is heard within the brain. It is another thing that some of the religions have tried to clarify and explain the true meaning of Noor thoroughly, while others have simply pointed towards its existence. Whatever it may be, the meaning of Noor (Light) is one and the same.

We have also Noor and sound (word) within us which is working in the groove of gross matter, after after descending from subtle regions, spreading out through gross matter—our mortal coil. The modern scientists used to believe only to this extent that a material object has diamensions like time, space and causality. But now they believe that the origin of matter is from a kind of electric energy and they believe in Light also. Materialists as well as spiritualists and others believe unanimously that heat and light are the origin of the universe.

Sant Mat or the religion of saints has gone a

step further by elaborating various regions of this Light. Saint Kabir says, "God created Noor (Light) in the beginning. By a single Noor the universe was brought into existence how can good be distinguished from bad." Some religions believe Noor as God, while others believe the creator of Noor to be God. After awakening love and devotion towards Supreme Being, the Supreme Mastar, the Doer, or Noor, we should merge our entity into the state of bliss.

If you want peace follow and preach the religion of humanity. The government can help in the establishment of peace only to a certain extent. It can use force to prevent torture and cruelty on one another among its people. It can supply food to the poor. It can make arrangement to provide clothes and shelter to the needy ones. But the government cannot make you moral, it cannot root out your meanness, your selfishness, your greed and your unworthiness. This can be accomplished only by following the religion of Humanity or Sant Mat and by saints, who are keen for the well-being of the human race. Ninety-nine percent of the people all over the world want peace. The disturbances, or bloodshed are due to the wickedness of a few mischief mongers. Everybody should adopt humanitarian

religion, he should be courteous, kind and considerate.

The government should be strong enough to control the forces obstructing the way to peace. Every individual should devote some of his time to spiritual practices to rise above the physical and mental spheres of sensations. When they gradually grow spiritually, they will automatically become peace-loving and humanitarian. This is the only way which can convert the vicious atmosphere of the whole world into a pleasant one.

The rulers or the leaders of all countries should be pure in heart, compassionate, unselfish worthy, peace-loving and just. There is no doubt that peaee will prevail all over our planet.

THE IDEA OF STHITAPRAJNA (STABLE INTELLECT)

by

H. H. Manav Dayal

Dr. Ishwar C. Sharma

The ideal of Sthitaprajna, or stable intellect, is meant to provide some guidance, for the common man, when he is overpowerd by emotions and faces a conflict of sentiments and duties, which appears insoluble. This was the case with Arjuna, who being overwhelmed by sentiments for his relations, was not able to decide whether he should fulfil his duty as a warrior and attack the opponents, or become a recluse to avoid the bloodshed and death of his brothers, uncles, grand-uncles etc. He could not entertain the idea of attacking venerated persons like Bhishma, his grand-uncle and Dronacharya, his preceptor and trainer in the art of war, who ought to have been worshipped by him with flowers instead of being overpowered by the shower of arrows. His affection for his blood-relations was aroused to the extent of rationalizing his decision to avoid the battle even if he

were tempted to fight on the promise of becoming the ruler of Gods. The weakness of his heart deluded him so much that he was unable to decide what course of action was right for him. Hence, he said to Krishna, "I have been deluded on account of the feeling of feeblemindedness. Therefore I request you to tell me definitely what course is desirable for my well-being. I am your pupil, and as such I seek your guidance."

Lord Krishna, being a great Yogin himself discerned that Arjuna, his dearest friend and disciple had lost sight of the fact that by killing the persons, who had sided with injustice and untruth, he would not be doing any damage to their soul, which is eternal and immortal. Arjuna was going to commit the blunder of confusing the physical body with the soul and was going to behave toward the differentiated embodied individuals equally. When in reality, the bond of unity among the individuals was neither body, nor mind, nor intellect, but Atman, which he could not see, without the intuitive knowledge of the oneness of reality. Arjuna had lost the balance of his mind and he had to be awakened from the ignorance, which was possible only by bringing stability to his intellect. But before acquainting him with the ideal of Sthitaprajna (stable intellect) Krishna thought it necessary to give Arjuna an insight into the nature of the Ultimate Reality to ptepare him to rise to the

higher level of a balanced mind and a balanced intellect.

Therefore, Arjuna is reminded of the fact that in spite of his apparent sensible talk, he shows a lack of intellect, because he worries about the changeable and destructible physical bodies. Wise persons do not bother about the passing away of physical bodies It therefore becomes necessary for Krishna to clarify the point that physical death is no death at all and that

> Dust thou art to dust returnest
> Was not spoken of the soul.

The Bhagavadgita is most emphatic about the immortality of the soul and the indestructibility of the ultimate stuff, on which the entire universe of names and forms, of matter, life, mind and intellect is based and grounded. Unless a fearlessness towards physical annihilation, were advocated, emotionally disturbed and mentally unbalanced Arjuna could not be brought back to normalcy, nor could he be exhorted to follow the ideal of stable intellect. Hence Krishna emphasizes that no individual (Jiva) can perish absolutely, and that the soul continues to exist eternally, although it passes through various incarnations. The courageous person is not deluded by the fear of death, because death is nothing, but a change, just like the change of childhood into adolescence of

adolescence intoyouth and of youth into old age. If the physical coil of the soul is changeable and destructible then that man is not wise, who indnlges in the transitory sensual pleasures of life, or who is pained by bodily or sensual affliction. A truly wise man is one, who takes the experience of cold and heat and pleasure and pain as a temporary phase of life. If a person is not perturbed by momentary pleasures and pains, if he remains balanced and never gives up courage, he should be considered worthiest to attain immortality. Further he holds that whatever exists must have its being and that there can be no existence without reality. Basic reality must necessarily be all-pervasive and indestructible. It is such a lasting reality that in spite of the destructibility of the body, mind and senses, it continues to exit. Hence, the soul cannot be identified with any of the lower levels of existence like life, body, mind or intellect ; the soul remains, when body perishes. The soul charges old body for a new one. It cannot be destroyed by any power or element like fire, weapons, wind or water etc., in any way whatsoever.

A person of stable intellect should realize that this unitive principle Atman, self or soul is the unmanifested reality and as such, is unthinkable, but at the same time it is manifested, when it takes up form, when it dwells in a living body. Even if the iucarnation of the soul and births and deaths are

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

supposed perpetual, one need not worry about physical death, because "To one who is born, death is certain, and to one who dies rebirth is certain. The fact remains that the beings are unmanifest before birth and unmanifest after physical annihilation. Since they become manifest only in the middle, the wise man is he who recognizes the indestructibility of the self. If the self is eternal and the basic reality of the entire cosmos is indestructible then the wise should look at pleasure and pain, loss and gain and victory and defeat equally, because these activities affect only the manifestep aspect of the self i.e., body, mind and intellect, but not its unmanifested aspect of self-luminosity, pure consciousness, pure intelligence and bliss.

Now, the question arises how to reconcile the empirical aspects of the experiences of pleasure and pain etc., on the one hand, and the blissful state of transcendent soul on the other. The answer is that one should behave in a differentiated manner, according to the plural nature of the spatio-temporal world, but at the same time one should continue to acknowledge the basic spiritual unity of the soul and the Brahman. Because our intellect, which gives us the empirical knowledge of the physical world is closest to the spiritual self, hence if we can control intellect if we can make it stable, the reconciliation between the material and the spiritual, between the

relative pairs of opposites and the absolute oneness of the Brahman is not only possible, but certain. The intellect is the connecting link between the material and the spiritual world, and hence is the best means to the attainment of a balanced state of mind, the pre-requisite of Jivanmukti (liberated state while in physical body). It is the intellect, which makes us understand the difference between Jnana (knowledge) and Vijnana (science) and which testifies to the need of both of them. Again, it is the intellect which discriminates between true and false, right and wroug, beautiful and ugly. In short, intellect is the very foundation of descriptive judgements, as well as of value judgements, of philosophic reflection and metaphysical speculation. Dharma (duty) is the means of intellectual development and of Moksha. The concept of the sthitaprajna confirms this contention, because the ethical discipline advocated by the Sthitaprajna ultimately leads him to attain Brahmisthiti, or the divine state, in which a person is never deluded and ultimately attains Nirvana or merges with Brahman.

A person, whose knowledge is true, who performs action without the expectation of fruit and who constantly meditates on God attains the state of Sthitaprajnana. In other words, all these disciplines of knowledge (Jnana), actlon (Karma) and devotion (Bhakti), when followed in an integrated manner, lead a person to the state of escablished wisdom or intellect.

The first pre-requisite of Sthitaprajna is giving up the desires of mind (sensual desires or base animal desires) and delighting in one's own self. This characteristic should not be misundersrood as selfishness, because a person delighted in the self, knows that the self is not his body, mind or intellect, but the universal Brahman, whish resides in all and which prompts him to love all and be just to all.

The second characteristic of Sthitaprajna is forbearance, which means courage to stand against all the odds of life. A person who has forbearance never loses heart, when confronted with sudden calamity and who in never over-elated at prosperity

The third pre-requisite of a Sthitaprajna is akin to forbearance, it requires him to be free of attraction towards pleasure and free from distraction in the presence of pain. The fifty-seventh verse of the second discourse of the Bhagavadgita explains this quality as freedom from favour and jealousy. Oue who behaves the same, when compliments are paid to him, and who does not retaliate for injury done to him, one who does not flatter those who do good to him is a person with stable intellect.

The fourth and the most essential characteristic of the person with steady wisdom, is self-control. This quality is explained fully in the Bhagavadgita with illustrations and with the warning that the

absence of self-control leads to the total destruction of the character of an individual. It is pointed out that when a person with stable intellect completely withdraws his senses from the sense objects his wisdom becomes steady. When such a person realizes the presence of Brahman in his ownself, then all his longings for sensual satisfaction disappear. There is no doubt that in spite of great efforts on the part of an individual, the mind by its very nature is driven towards sensual pleasures. The best way to control the senses and to attain the state of the stability of intellect, is to meditate on God, or to turn one's attention towards God.

When even metally indulging in sensual objects the individual comes to be associated with them; the association leads to desire for the sensual objects; desire or attachment brings about anger: anger leads to delusion, delusion brings about the confusion of memory; the confusion of memory and the destruction of leads to the destruction of intelligence, results in the total annihilation of the character.

Self-control is very necessary for a sthitaprajna; without it one cannot progress spiritually. There will be a gradual deterioration of the mind of the person, who has no self-control. Serenity and calmness of mind is not possible without the exercise of self-control. One who has no control over his senses and mind, can neither have knowledge, nor can he resort to meditation. A person, devoid of meditation

can have no peace ; and a person who has lost his peace of mind must constantly be mirerable. That is why it is said again and again that only that person, whose senses are completely under his control has a stable intellect or wisdom.

However, a person with stable intellect is neither a recluse, who follows asceticism to the extreme extent of suppressing all desires, nor is he over-indulgent and indiscrect, so far as the satisfaction of his animal desires is concerned. He follows the middle path between the two extremes. Having the spiritual background the person with stable intellect is different from the common man The Bhagavadgita says, "That which to all creatures is night, the man of self-control is wide-awake and when creatures are wide awake, it is night for the person who is awakened."

A person with stable intellect synthesizes action and knowledge (Karma and Jnana), passion and reason, psychology and logic, intellect and intuition, thereby systematising all desires, instead of either suppressing them, or becoming a slave to them.

The heart of the man with mental equilibrium overflows with love and compassion for all living beings, irrespective of friend and foe Hence, such a person can never retaliate, even when he is victimised by an aggressor. The sublimation of the emotions

attained through self-control, enriches life and promotes harmony, bringing about the healthy development of the individual and the happiness of family-life. Modern psychologists have repeatedetly pointed out that the emotions of anger and fear are not only harmful for bodily health but they even prove fatal, when uncontrolled. The emphasis on self-control, indifference to depressing and elating situation and freedom from emotions are undoubtedly usefnl to maintain bodily health. A well-known American author asked a ninety years old healthy man "What is the secret of your worldly success and extraordinary health ?" The old man answered bricfly, "Words don't hurt me."

SINCERE PRAYER

Swami Rama Tirtha

Sincere prayer is that, in which a man does not maintain his balance, due to self-forgetfulness in his love for the Lord. He cannot keep himself steady. If one repeats the name of God with all fervour and sincerity ,one round of beads of rosary has an effect of a thousand rounds. It is said that "there is a wheel in Tibet which rotates the entire rosary in one round." If you utter the name of God once with sincerity, from the bottom of your heart, it would be multiplied by thousand rounds. I mean to stress that if you repeat His name at all, you should do so wholeheartedly.

A Muslim friend of mine, had never in his life time offered any Namaz (Muslim prayer). During those days there was a lot of thieving going on at his city Sialkot. So one officer named Warberton was sent by the British Government of India to suppress this crime. That officer ordered all the suspects to report thrice a day, at the police station. This did help to suppress the cases of theft to some extent. Once- on a Friday some of the Muslim friends who were going to offer their prayers at the

mosque asked that friend of mine the reason for not going to the mosque to offer prayers. He replied, "I am not a thief to report myself to God. I have not committed any crime. People consider their bodies as their own. But this is not so. It is the God-given body and it belongs to God. Out of sheer selfishness, people have usurped their body and call it their own. They have stolen God's property. They think that they are Brahmins, Kshatriyas, Vaishs, Hindus or Muslims which in reality they are not. They are in fact thieves and go to the mosque to report their presence, as people are going to report to Mr. Warberton now a days at the police station. But I am neither a suspect, nor a criminal. Why should I go to Mosque."

But that friend of mine Sheikh Sahib did bow down only once and never a second time. While offering his prayers he bowed down sincerely and never got up. His life was gone for good. This was the real Namaz or prayer for him.

A true lover of God, Nam Deva had the firm, unshakable faith in his heart, which compelled the Lord to materialize Himself for the time being. The shephered also had the same unshakable faith in his heart. That is why God scoleded Moses and said, you have came to, this world to unite persons with Me and not to separate them from Me.

O pious soul ! You can reach Kaba, the house of God earlier by the sea route than by the dry land route. Your dry fasting or piety is useless. The eyes are useless, if they are not wet with tears for Him. Unless you approach Him with tears of love, your dry prayers will not help you. Why do you want to reach Mecca by dry road, offering dry prayers, dry repetition of His name or theoretical bookish knowledge, without any tears, touching your heart.

In the State of Punjab, there was a great saint, whose name was Nanak. Once, when he was employed in a warehouse, a few cheats came to him in the guise of saints. He started giving them grain. He was orally counting the measures repeatedly, but in his heart of hearts he was deeply absorbed in the thoughts of the Lord. Absorption in spiritualism was permeating Nanak's thoughts even through his worldly actions. Seemingly, he was counting the numbers, but this counting had no impression on his heart. By the time he counted Terah (thirteen), he forgot everything. In Hindi the word 'Terah' also means thine. He got so inspired by the word 'Terah' (thine) that he entered into a state of trance, the spiritual forgetfulness, or complete absorption in God. By the word Terah (thirteen and also thine) he was reminded that he was His. "I am Thine", "Thine I am, Thine, Thine" he thought. He was completely

lost in his thought. He went on measuring the grain and repeating the word 'Terah' (Thine), thereby meaning that "all is Thine". While repeating "Terah he went into trance and fell on the ground unconscious. Although his tongue stopped, yet it seemed, as if from every hair of his the sound of 'Tehra', 'Tehra'. "I am Thine, "I am Thine". was coming out. The thieves were surprised to witness this scene. God changed the hearts of those cheats. Their hearts were stolen by God, who is the Thief of thieves (because he steals away the hearts of His devotees). The cheats were so much affected that they also started uttering "Terah", "Terah", 'Th.ne', "Thine". In this example of thieves, the curtain was lifted temporarily through self absorption.

When Alexander came to India, he discovered that of all the countries, he had conquered, the most truthful, wise and beautiful persons were found in this country. He desired to see the heads of India, i.e., the philosophers and the saints. He was then taken to the banks of river Indus, where he found a saintly personality. Alexander was known, as the emperor of the world, while that saint did not have even the loin cloth, round his waist. Alexander had a great personality. The eyes of the saint were also sparkling with spiritual lustre, saying, as it were, "I bestow grandeur on the kings and beauty on the beautiful ones, whenever I look at them."

Alexander the great was ovewhelmed by the spiritual personality of that saint and said to him, "O great soul ! be kind to me. People in India keep even the jewels like you hidden in obscurity. But in Greece great importance is given even to small things. I request you to be gracious enough to accompany me to my country. I shall offer you kingdom, wealth and precious stones. I shall offer you anything you might require but pray, do accompany me."

The saint only smiled and said, "I am every where. I am Omnipresent. I am beyond space."

Alexander could not understand the saint and repeated his request and offered many temptations. But the saint replied, "I don't need anything. I am not a man to lick my own discarded sputum."

Alexender got annoyed and felt insulted. No body till then had ever refused to comply with his orders. He dew his sword to kill the saint. But the saint burst into laughter and said, "Alexander ! you could never have told such a big lie in your life before. I have yet to see a sword which could cut me. Children sit on the sand and play with it, construct small houses and then demolish them themselves. The sand does not lose anything in this process. It remains the same as before. Similar was the case with the saint. This body is like a

house of sand, which is buiit according to the innate tendencies of man. I am the sand, the base all pervading. I was never a house. If anyone wants to demolish it, he in reality, is damaging his own house. The sand does not run any risk of losing anything. It remains sand all the same."

"The stars are not separated from the light. So, you are myself and I am yourself."

On this retort from the saint, the sword fell down automatically from the hands of Alexander the great and he apologised for his arrogance.

There is another example of a sweepress, who used to sweep and dust the palace of a king. She often found pieces of gold or pearls, while sweeping. She used to pick up those prescious stones. She had a son, who had been out of the country since his childhood. After about fifteen years, he returned home and found that his mother had accumulated many precious stones in her hut. He asked his mother where she had got such beautiful pearls and stones. She told him that they were all the fallen pieces which she had collected while sweeping the palaces.

The son pondered at the beauty of the pearls and said, "If the pearls of the queen are so beautiful, how much more beautiful the queen herself would

be." He was lost in love for the queen and requested his mother to show him the queen.

These stars, the moon, the sun, the shining rivers and the worldly beauties are but the fallen pearls of that Reality. If such is the attraction of the fallen pearls, the beauty of that Reality must simply be exquisite. It had better be realized than described.

Monthly Message

OF

H. H. PARAM SANT HAZUR MANAV DAYAL
Dr. I. C. SHARMA JI MAHARAJ

My dearest Ownselves

Love and Blessings of the Supreme Compassionate Lord.

I had given you the information of my satsang tour upto January 27, 1991 in the last monthly message. On January 29, we reached the house of dear Trilok Sharma at Jalandhar and started for Itarsi the same night we reached Itarsi on January 30 and directly went to the residence of Shri Sunder Lal to stay there. Three discourses were delivered on January 31, and Feb. 1, 1991. The devoted satsangees from Itarsi and other surrounding villages and towns had gathered to attend the satsangs.

The satsangees of Itarsi are mostly Sindhies and have great faith and reverence. They listened to every word of the satsang with great attention and reverence. They are very sincere and disciplined. The family of dear Sunder Das has been associated with Manavata Dharma and Param Sant Param Dayal

Ji Maharaj for a long time. During my stay at the residence of dear Sunder Das. I felt that he and all the members of his family felt delighted and were extremely happy, because I went directly to their residence. They were overwhelmed with joy. Next day we stayed with dear Charanjeet Singh, whose father Shri Joginder Singh and the members of his family have also been associated with Param Dayal Ji Maharaj and Manavata Mandir for a long time. A satsang was delivered at the house of dear Charanjit Singh on Feb. 2.

One of the satsangees was Mr. Arun Das who had come to Itarsi for attending satsangs. His name is worth mentionging. He is a very sincere dedicated satsangi. His whole family is dedicated and has great faith, on account of which he is flourishing day by day. He gives lot of money in donation to Manavata Mandir every year. It is a fact that he who gives money in charity with reverence and faith is bound to flourish materially.

Simiilarly my dear young Vishnu Merchant of Katani is also one of the most sincere, dedicated satsangees. He has firm faith in me and comes to see me at Delhi and Hoshiarpur very often. This time he came to Hoshiarpur alongwith his wife Rani and their youngest daughter Uma and stayed with us for about ten days. They enjoyed their stay so much that they did not want to go back. The environment

of Manavata Mandir is so good and spiritual that every body gets peace of mind and bliss. I think that the satsangees living here permanently are very fortunate. They have the golden opportunity to live in the atmosphere of peace and spirituality. Alongwith the staff and some satsangees living in the temple, there is one most dedicated lady Mrs. Raj Kumari, the wife of late Shri Onkar Singh of Mathura (Deputy Superintendent of Police) who was the most sincere, dedicated satsangi associated with Param Dayal Ji Maharaj and me for a long time. Mrs. Raj Kumari gives lot of money to the temple and pays rent for the room. She is very sincere and dedicated like her husband.

Usually many satsangees come to Manavata Mandir to stay in the spiritual and peaceful atmosphere of the tempie for a few days and are benefited.

On Feb. 2 another satsang was arranged at the residence of dear Dharam Das in the neighbourhood of dear Charanjit Singh. It was a large gathering; among them there were also some satsangees from Bias. The members of the family of Dharam Das and many other satsangees are being drawn towards Radhaswami faith after hearing my discourses and true explanation of Radhaswami Faith. There is no doubt that we don't want to shake the faith of any individual, belonging to any sect, denominations and faith. One should have firm faith in one's own Guru,

preceptor or denomination. The Sadguru (the Supreme Being) is one and the element of Radhaswami is one. The Sadguru is perfect and indestructible. He has no form, yet all forms are His. If you are not inspired, and awakened spiritually, by the discoure of Sadguru, it is useless to be associated with him. The Sadguru must give you true knowledge, love and inspiration. A true follower of Radhaswami faith does not hate anybody and respects all religions, sects, denominations and faiths, and a true preceptor also loves everybody. He does not shake the faith of the aspirants of any such sect or faith.

Mr. Arjun Das stayed at Itarsi with me for three days and attended all my satsangs. He is really a dedicated and loving aspirant. On Feb. 3 we started from Itarsi by train and reached Ujjan at 3 p.m. Acharya Rama Bai and her family, Shri Bansi Lal and his family, Acharaya Surya Narayan Bhatt, Mrs. Shanta Bai and her family and her many other devoted satsangees had come to receive us at the station. There was a huge gathering. We directly went to the residence of Mrs. Rama Bai, where we stayed. On the first day of our arrival at Ujjain, many devoted satsangees came to visit me and had personal guidance from me.

On Feb. 4, 5, 6 huge satsangs were arranged, in a huge tent beautifully decorated, near the temple of Mahan Kaleshwar. Thousands of satsangees

attended the discourses, which were very thought-provoking, inspiring and enlightening. After the satsang there used to be banquet (Bhandoo) for all those thousands of people, who attended the discourses, Many satsangees from Tarana, Barout Indore and other places attended the discourses.

On the last day we went to Barant where a satsang had alread been arranged in the evening and in the morning next day. We started from Baraut next morning and reached Kachnara via Ujjan. There was a satsang ath the Ashram of Ishwer Das. After this discourse we started for Indore. During all this long journey my dearest Mahendro Garg was driving us his car with great love, affection and reverence. After taking our meals at Indore we started for at Khandwa 10 p.m. by Matador and reached the residence of Mrs. Shanta Bai at 3 a.m. Acharya Rama Bai, her dear sister and dear Mahendra Garg were with us throughout our journey from Khandwa. The arrangement made by the authorities and satsangees of Ujjain, Indore Baraut, Itawa and Tarana is always excellent and superb. I cannot describe their love, dedication and unshakable faith. This time I was surprised to see the excellent arrangement of satsangs and Bhandara of Barout, a very small place. We had no difficulty at all. Mr. Ram Chander of Baraut has already given one Acre of land for the construction of Manavata Mandir for that area. I hope that the

building for Manavata Mandir and a primary school will be set up very soon.

Among the satsangees of Itawa and Tarana the names of dear Sewa Ram, his son dear Radheshyam dear Balram, dear Ganpati and his brother Jagdeesh are worth-mentioning. I always call the wife of dear Seva Ram as Tarana Mata (The mother of Tarana) and his brother Ganpati Tarana Mama (The uncle of Tarana).

The satsangees of these areas are all dedicated and completely surrendered. Balram accompanied us till Khandwa. Perhaps every satsangi knows that about fourteen dedicated satsangees from Tarana and Itawa do come to Hoshiarpur to take care of cooking during the Vaisakhi festival on their own expense. This is the real service of humanity. We should take inspiration from them.

In Ujjain, Mahendra, the brother of Acharya Rama Bai, her husband Shri Shyam Lal and their worthy son dear Alkesh and Rama Bai's nephew dear Ashok always make superb arrangements for the discourses and meals for thousands of satsangees. Dear Mahendra is a leading industrialists of Indore but he is a very humble, sincere and dedicated devotee. He always accompanies me in the tour of Central India, drives me in his own car and spends lots of money. He is an ideal aspirant and an ideal hnman being, full of love,devotion and affection. He is one of my spiritual

sons. I wish him all the best and wish that he should reach the highest peak of spirituality. Whenever I depart from the satsangees of Central Province, people do shed tears of love and I also feel like shedding tears. This time also there was a huge gathering at the time of departure at Khandwa. I could feel the love, respect and affection from their faces.

The love of devotees cannot be described in in words. They are full of love. They see the form of their beloved Guru in every human being. The significance and the importance of true love is beyond description. The lover never forgets his beloved even for a second. He repeats the name of his beloved day and night and thinks about his beloved all the time. He is absorbed in the thought of his beloved so much that he forgets everything and becomes like his beloved. His love becomes universal. God is present everywhere and He loves everybody. If we love God, we must love everybody, because God resides in the herts of all. A lover of God cannot hate anybody, because he sees the glimpse of God in every soul which resides in the body. I felt that the devoted satsangees at the railway station were seeing the glimpse of God in one another and me.

We reached Allahabad on Feb. 10, after finishing our unforgettable tour of Central Province. Acharya Krishan Mohan Tiwari of Lucknow and Acharya Krishan Mohan Shrivastva of Mishrak Teerth had

already reached the house of dear Sumitra Kumar. A satsang was arranged at dear Sumitra Kumar's house, in which many satsangees had gathered to attend that satsang. Two sons of Acharya Nirmala Pandit from Bombay had also come to attend this discourse alongwith my dear Rasul Azad. Deepak the youngest son of Acharya Nirmala Pandit who came to see me at Allahabad alongwith his elder brother Ravi, is the son-in-law of Shri Ajay Mishra who is a Judge in the High Court of U.P. Deepak told me that his father-in-law was very keen that I should visit his house. So next day on the request of Deepak we did visit Shri Ajay Mishra early in the morning. Acharya Krishan Mohan Tiwari, Acharya Shrivastva, Rasul Azad and my dear Sumitra Kumar also accompanied me. I was glad to note that Mishra JI was highly intellectual and spiritually advanced. His elder brother is also very spiritual. Both of them have keen interest in spiritualism and religion and are advancing towards their goal. We stayed with them for about two hours and our personal talk turned into a sort of spiritual discourse. At ten a.m. we come back to the residence of Shri Sumitra Kumar. From his house we went to visit the professors of philosophy of the University of Allahabad. At night there was a satsang. Many people attended that satsang and were inspired.

Next day we reached Radhaswami Dham and

stayed at the Dham. The satsangs on Feb. 12 and 13 were very successful. Satsangees had come from Lucknow, Allahabad, Benaras, Kanouj and Bombay to attend these discourses. All of us enjoyed our inspiring stay at the Dham. The authorities of the managing committee of Radhaswami Dham passed a resolution that there should be some improvement concerning the construction and renovation in the building and a beautiful guest house should be constructed very soon. Some funds had been collected already, last year and Rs. 8000 were collected as donations on the spot and people of Bombay and Hoshiarpur promised that they would send their donations immediately.

Param Dayal Ji Maharaj had said that he would help to improve the Dham in every possible way, if an Acharya of this choice was appointed at the Dham permanently. He had expressed his desire in public and also written in his will. I am following the footsteps of my respected Master and firmly believe that one day this Radhaswami Dham would attract millions of people all over the world and become a unique center. The discourses of Acharya K. M. Tiwari and Acharya K. M. Shrivastva were also very impressive and inspiring.

After enjoyiug our stay at the Dham we went to Khanpur for a while and reached the residence of Acharya K. M. Tiwari at 10 p.m. on Feb. 11 a

satsang was arranged on the roof of his residence, where a beautiful huge tent had been put up for the satsangees, who came from different towns and villages to attend the satsangs. Hundreds of people had come from Kanauj, Kanpur and Unnaos. It was a huge gathering. People were so happy to see me especially because I had not visited Lucknow last year because of the disturbances in the country.

I visit Lucknow every year, when I go to attend the annual function of Swami Ram Tirtha at Lucknow, where the scholars, saints and Mahatmas all over India come to attend this great conference. I am invited every year and I do attend this conference, ference, because I think Swami Ram Tirtha was the greatest saint, philosopher who adopted Vedanta in practical life and inspired millions of people and a perfect devotee of God. I wish all my ownselves to follow the path of humanity and serve humanity. I wish you all peace, prosperity and health and of course spiritual growth.

Blessings to all. Radhaswami.

Yours Manav.

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY PURNADAYAL

राधास्वामी नाम-ध्वनि

राधास्वामी, राधास्वामी राधास्वामी ।
अलख अगम और अनामी ।
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी ।
परमसन्त का रूप धरा, जीवों पर उपकार किया ।
सीधा सच्चा मार्ग दिया, आये धुर पद धामी ।
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी ॥
बन कर आये परम फ़कीर, हरने सब जीवों की पीर ।
दयालु दानी वीर, नाम दान के दानी ॥
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी ॥
राम भी हो और कृष्ण भी तुम ।
तुम महावीर और बुद्ध गौतम ।
अक्षर ब्रह्म और पुरुषोत्तम, सब नामों में अनामी ॥
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी ॥
मानवता का किया प्रचार, निज अनुभव का दे दिया सार,
ऐसे गुरु को बारम्बार, नमामि नमामि नमामि ॥
राधास्वामी, राधास्रामी, राधास्वामी ॥
दाता दयाल के प्यारे तुम, मानव के रखवारे तुम ।
निर्गुण और सगुण भी तुम, सब के अन्तर्यामी ॥
राधास्वामी, राधास्वामी, राथास्वामी ॥

Regd. No. 26265/74

MANAV MANDIR

JUNE 10th 1991

NWHSP—7

Address

2652. Mr. V.L. Gupta,
16-11-19/2/3 Saleem Nagar,
Malakpet, HYDERABAD-500[illegible]6
(A.P.)

H/E

From :

MANAVATA MANDIR
SUTEHRI ROAD,
HOSHIARPUR - 146 001

Phone No. : 2639

Shiv Dev Rao Press, Manavata Mandir, Hoshiarpur (Pb.)